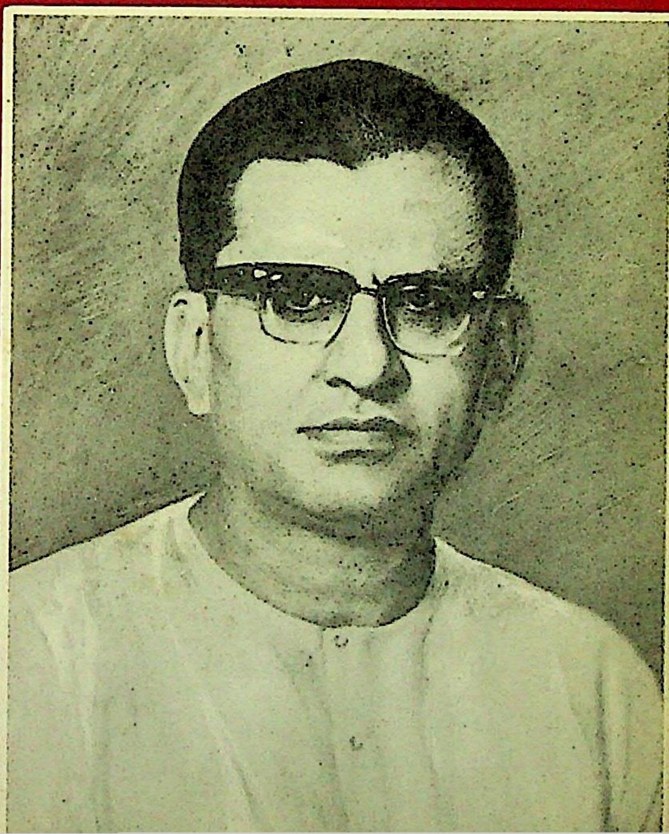
साहित्य

डॉ. नगेन्द्र

निर्मला जैन



भारतीय
साहित्य के
निर्माता

डॉ. नगेन्द्र

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

डॉ. नगेन्द्र

निर्मला जैन

साहित्य अकादेमी

Dr. Nagendra : a monograph in Hindi on the Modern Hindi Critic, written by Nirmala Jain, Sahitya Akademi, New Delhi (2003) Rs. 25

प्रथम संस्करण : 2003 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053

सी आई टी कैम्पस, टी.टी.टी.आई. पोस्ट, तरामणि, चेन्नई 600 113

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर मार्ग, बंगलौर 560 002

ISBN 81-260-1581-0

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : कलर प्रिंट, शाहदरा, दिल्ली

प्रस्तुति

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद की पीढ़ी के हिन्दी आलोचकों में डॉ. नगेन्द्र का विशेष महत्त्व है। उन्होंने छायावादी कविता की सहृदयता से सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या की और अपने समय के पाठकों की साहित्यिक अभिरुचि का निर्माण करने का प्रयास किया। वे स्वयं काव्य-रचना की राह से गुज़रकर आलोचना में आये थे। पर एक बार आये तो कविता पीछे छूट गयी।

दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यक्ष के रूप में नियुक्ति के बाद वे क्रमशः व्यावहारिक आलोचना से भी उदासीन हो गये। उन्होंने अपने आपको पूरी तरह काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना, अनुवाद और सम्पादन के प्रति समर्पित कर दिया। उनके व्यक्तित्व में अध्यापक और आलोचक अभिन्न हो गये। परिणामतः उनकी ख्याति आलोचक से अधिक कर्मठ और कुशल प्रशासक और शास्त्रनिष्ठ आचार्य के रूप में हुई।

देश के विश्वविद्यालयों में हिन्दी-विधा को गौरवपूर्ण स्थान और प्रतिष्ठा दिलाने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए गठित तमाम सरकारी, ग़ैर-सरकारी संस्थाओं से उनका सम्बन्ध और उनमें प्रभावी और निर्णायक भूमिका रही।

उनके केन्द्रीय सरोकार थे—भारतीय भाषाओं के साहित्यों की मूलभूत एकता की तलाश और साहित्य की सार्वभौमिक सैद्धान्तिकी का निरूपण। उन्होंने अपने लेखों और ग्रन्थों में बराबर इस पर बल दिया।

शास्त्र और सैद्धान्तिकी के क्षेत्र में पूर्ण तन्मयता और लगन के साथ कार्य करते हुए, बीच-बीच में वे रचनात्मक लेखक में भी प्रवृत्त हुए—कुछ संस्मरण, कुछ यात्रा-वृत्त *अर्धकथा* शीर्षक से एकपक्षीय आत्मकथा और कुछ काव्यानुवाद। इन रचनाओं के मूल में कुछ अवसर का अनुरोध और कुछ आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा कारण रही।

जीवन के पिछले दौर में उन्होंने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया, जिनमें साहित्येतिहास के अलावा कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाकारों और साहित्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों पर उपयोगी सामग्री सुलभ कराने का आग्रह दिखाई पड़ता है।

प्रस्तुत पुस्तक में पाठकों को डॉ. नगेन्द्र के इस बहुमुखी व्यक्तित्व से परिचित कराने का प्रयास किया गया है। आकार की सीमा के कारण, उनके सर्वांगीण कृतित्व का विस्तार से व्याख्यान-विश्लेषण सम्भव नहीं था। प्रयास यही है कि व्यक्ति नगेन्द्र और उनके रचनात्मक और आलोचनात्मक अवदान की समग्र और संक्षिप्त रूपरेखा पाठकों के सामने आ सके।

–निर्मला जैन

अनुक्रम

1

आरम्भिक जीवन और परिवार

डॉ. नगेन्द्र का जन्म उत्तर प्रदेश में ज़िला अलीगढ़ के अतरौली ग्राम में मार्च 1915 में हुआ। ज्योतिष-गणना के अनुसार उनका जन्म 9 मार्च को माना जाता है, पर स्कूल के रिकॉर्ड में यह तिथि 22 मार्च दर्ज है। तिथि के बारे में कोई निश्चित लिखित प्रमाण नहीं मिलता।

उनके पितामह पं. गंगाप्रसाद का सम्बन्ध उत्तर प्रदेश के सम्पन्न तथा प्रसिद्ध नगाइच परिवार से था। उनकी पितामही भी लाखनू सूरजपुर के राजघराने से थीं। नगेन्द्र के पिता पं. राजेन्द्र, पं. गंगाप्रसाद के दत्तक पुत्र थे। उनकी माता श्रीमती शिवधारा एटा ज़िले सोरों के गाँव होडलपुर के संभ्रान्त, धनी ज़मींदार श्री चौधरी की पुत्री थीं।

पिता पं. राजेन्द्र विचार से आर्यसमाजी थे। राजनीति में उनका झुकाव कांग्रेस की ओर था। ज़मींदारी के कार्यों में न उनकी रुचि थी, न प्रवृत्ति। परिणामतः उनका अधिकांश जीवन आर्य-समाज की समाज-सुधारक नीतियों और कांग्रेस के क्रिया-कलापों के लिए कार्य करते बीता। सामन्ती संस्कारोंवाले पिता से इस आर्यसमाजी दत्तक पुत्र की जीवन-शैली को न समर्थन मिला, न प्रोत्साहन। अतः दोनों के बीच सम्बन्धों की सहज अपेक्षित ऊष्मा का अभाव ही रहा।

डॉ. नगेन्द्र अक्सर कहा करते थे कि वे दादा-दादी के लाड़ले पौत्र थे और भावनात्मक स्तर पर पिता की अपेक्षा पितामह से उनका अधिक लगाव था। डॉ. नगेन्द्र के व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी इस पारिवारिक पृष्ठभूमि की निश्चित और महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। वे नौ वर्ष की आयु तक पितामह के सान्निध्य में, उनके देहान्त तक रहे।

डॉ. नगेन्द्र की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा श्री प्रसादीलाल चूड़ामणि और राजगुरु धीरेन्द्र शास्त्री की देख-रेख में हुई। इन्हीं गुरुद्वय से उन्होंने सन्ध्या-वंदना, यज्ञादि के मन्त्र-पाठ की विधि और उनके अर्थ की शिक्षा ग्रहण की। कहा जाता है कि

उनके आचार-विचार पर धीरेन्द्र शास्त्री की जीवनदृष्टि का गहरा प्रभाव पड़ा। गुरु के रूप में वे प्रसादीलाल का भी बहुत आदर करते थे।

डॉ. नगेन्द्र की प्राइमरी शिक्षा अतरौली के एक स्कूल में पं. राधावल्लभ और मुंशी किशनलाल की देखरेख में हुई। यहीं से सन् 1928 में उन्होंने प्रथम श्रेणी में आठवीं कक्षा पास की। उनकी आगे की शिक्षा ऐंग्लो वैदिक हाईस्कूल, अनूपशहर में हुई, जहाँ से उन्होंने सन् 1930 में प्रथम श्रेणी में हाईस्कूल पास किया। इंटरमीडिएट उन्होंने चंदौसी से किया और बी.ए. की शिक्षा के लिए इलाहाबाद चले गये। वहाँ मनोनुकूल विषय न मिलने के कारण, दो-तीन सप्ताह बाद ही वे सेंट जॉन्स कॉलेज आगरा आ गये। यहीं से उन्होंने बी.ए. की परीक्षा पास की, जिसका परीक्षाफल निराशाजनक (द्वितीय श्रेणी) रहा। इसी बीच उनका परिचय बाबू गुलाबराय से हुआ। डॉ. नगेन्द्र ने अपनी रचनाओं में बाबू गुलाबराय के गहरे प्रभाव का ज़िक्र किया है। एम.ए. की परीक्षा उन्होंने अंग्रेज़ी विषय लेकर 1936 में तृतीय श्रेणी में पास की। कहना न होगा, अंग्रेज़ी भाषा के उस वर्चस्व-युग में, यह उपाधि उन्हें नौकरी दिलाने में बाधक नहीं हुई।

1937 में डॉ. नगेन्द्र की नियुक्ति मात्र पचास रुपये वेतन पर ट्यूटर के रूप में दिल्ली के श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स (कमर्शियल कॉलेज) में हुई। बाद में इसी कॉलेज में उनकी पदोन्नति अंग्रेज़ी के प्राध्यापक के रूप में हो गयी और उन्होंने यहीं दस वर्षों तक अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का अध्यापन किया।

उनका विवाह 19 वर्ष की आयु में ही, जब वे एम. ए. प्रथम वर्ष के छात्र थे, बुलन्दशहर के एक ब्राह्मण परिवार की कन्या रक्षावती देवी के साथ हो गया। उनकी पत्नी भी हिन्दी प्रभाकर की गोल्ड मेडलिस्ट, संस्कृत की सिद्धान्त-शास्त्रा और आचार-विचार से कट्टर आर्यसमाजी थीं। इस विवाह-सम्बन्ध से 1935 और 1939 में क्रमशः उनकी दो पुत्रियों का जन्म हुआ। उन्होंने इनका नाम सुषमा प्रियदर्शिनी और प्रतिमा प्रियदर्शिनी रखा। उन्होंने कभी इस बात को नहीं छिपाया कि यह नामकरण उन्होंने जवाहरलाल नेहरू की पुत्री इंदिरा प्रियदर्शिनी के नाम से प्रभावित होकर किया था। यह तथ्य डॉ. नगेन्द्र की मानसिकता की समझ के लिए उल्लेखनीय है। उनके मन में कांग्रेस की नीतियों और विशेषकर जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व के प्रति गहरे सम्मान का भाव लम्बे समय तक बना रहा। यह संयोग मात्र नहीं है कि उन्होंने अपनी प्रौढ़ावस्था में *नेहरू का साहित्य-संसार* शीर्षक ग्रन्थ का सम्पादन किया।

□

2

शिक्षा और जीविका

डॉ. नगेन्द्र की औपचारिक शिक्षा अंग्रेज़ी में हुई। उनके आरम्भिक जीवन में अंग्रेज़ी उनकी आजीविका का साधन भी बनी, पर उनकी रुचि का केन्द्र मुख्य रूप से हिन्दी साहित्य रहा। वे अंग्रेज़ी साहित्य का अध्यापन और हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते रहे। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ भी काव्य-रचना से किया। उनके दो काव्य-संग्रह *वनबाला* और *छन्दमयी* नाम से प्रकाशित हुए थे, जो उनके जीवन के उत्तर काल में *मर्मकथा* नाम से एक ही जिल्द में समाहित कर दिए गये। अंग्रेज़ी साहित्य का अध्यापन करते हुए ही उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से सन् 1937 में हिन्दी एम.ए. की डिग्री हासिल की। इसी दौर में उन्होंने अपनी पहली आलोचनात्मक कृति *सुमित्रानन्दन पन्त* और उसके बाद *साकेत : एक अध्ययन* की रचना की और 'रीतिकालीन पृष्ठभूमि में देव का स्थान' विषय पर शोध-कार्य किया। उनके शोध प्रबन्ध और अन्य आलोचनात्मक कृतियों के आधार पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् 1947 में पी-एच.डी. की अर्हता को निरस्त कर उन्हें सीधे डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की। तत्कालीन शैक्षिक और साहित्यिक परिदृश्य में यह एक विरल और ऐतिहासिक घटना थी। इस शोध-प्रबन्ध के ऐतिहासिक महत्त्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि *रीतिकाव्य की भूमिका* तथा *देव और उनकी कविता* नाम से दो खंडों में प्रकाशित यह प्रबन्ध आज भी रीतिकाल के अध्येताओं और शोधकर्मियों के बीच सबसे प्रामाणिक और उच्चस्तरीय विवेचनात्मक स्रोत-ग्रन्थ के रूप में मान्य है।

शोध-विषय के रूप में रीति साहित्य और आलोचना के विषय के रूप में आधुनिक कविता के चयन में जो संश्लिष्ट मानसिक बनावट काम कर रही थी, वह एक हद तक उनके परवर्ती कृतित्व की समझ में सहायक हो सकती है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उनकी कविताओं में भी रीतिकालीन शृंगारिकता, छायावादी रोमान और प्रच्छन्नता और अभिव्यक्ति में तत्सम पदावली के आग्रह

से जो घोल बनता है, उसे सीधे-सीधे किसी विशेष काव्यधारा से सम्बद्ध करना तो कठिन है, पर कुल मिलाकर ये कविताएँ उत्तर छायावादी काव्य-प्रवृत्ति के अन्तर्गत ही आएँगी।

डॉ. नगेन्द्र ने 1947 में आकाशवाणी के महानिदेशक श्री पी.सी. चौधरी के आमन्त्रण पर दिल्ली केन्द्र में पहले कार्यक्रम निदेशक और कुछ समय बाद 'समाचार-विभाग-पर्यवेक्षक' का पद स्वीकार कर लिया। उन्होंने ऐसा हिन्दी के प्रति अपने रुझान और साथ ही सरकारी नौकरी के आकर्षण के कारण किया होगा। पर उन्हें बहुत जल्दी इस बात का एहसास हो गया कि वहाँ का वातावरण और काम उनके स्वभाव और रुचि के अनुकूल नहीं है। डॉ. नगेन्द्र का मन वहाँ भले ही न रमा हो, पर वह जितने वर्ष वहाँ रहे, बराबर आकाशवाणी से प्रसारित होनेवाले हिन्दी समाचारों और उद्‌घोषणाओं की भाषा से जूझते रहे। इस प्रक्रिया में होनेवाले कटु अनुभवों की उन्होंने कई प्रसंगों में चर्चा की है। स्वाधीनता-प्राप्ति के तत्काल बाद का यह वह दौर था, जब आकाशवाणी में सहज और बरबस दोनों रूपों में हिन्दी का प्रवेश कराया जा रहा था। इससे पहले शब्दों के रूप और उच्चारण के मानकीकरण पर अपेक्षित ध्यान कम ही दिया जाता था। शास्त्रीय संगीत की उद्‌घोषणाओं में लय के लिए 'विलंबित' और 'द्रुत' का उच्चारण 'वलंपत' और 'दुरुत' होता था। डॉ. नगेन्द्र ने पहुँचते ही इस पर रोक लगाकर उच्चारण शुद्ध कराया। यह बात अलग है कि लगे हाथों ख्याल के 'शुरू' के बोल के बजाय 'आरम्भ' के बोल कहा जाने लगा, जिसकी शायद कोई ख़ास ज़रूरत नहीं थी। कहा जाता है कि ऐसे प्रसंगों पर आरम्भ में 'एनाउंसर्स-बूथ' में अक्सर खलबली मच जाती थी। इस शुद्धिकरण का विरोध भी होता था, क्योंकि हिन्दी का मज़ाक़ उड़ानेवालों की उस समय भी कोई कमी नहीं थी।

ऐसा धर्मसंकट उनके सामने कई बार समाचारों का अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद करते हुए भी पैदा हुआ। कभी-कभी ग़ैर-जानकारी के कारण उनसे ऐसी चूक हो जाती थी, जो आत्मग्लानि का कारण बनती और उनकी तात्कालिक प्रतिक्रिया, रस्सा तुड़ाकर भाग लेने की होती थी। ऐसी घटनाओं का ज़िक्र उन्होंने अपने आत्मकथात्मक लेखों में किया है।

बड़ी व्यग्रता और निष्ठा से आकाशवाणी के हिन्दी समाचार में अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए डॉ. नगेन्द्र अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करते रहे, जब वे सरकारी दफ़्तर की एकरस कार्यप्रणाली से मुक्ति पाकर साहित्यिक एवं शैक्षिक जीवन की गतिविधियों से विधिवत सम्बन्ध जोड़ सकें। इस अवसर के लिए उन्हें लगभग पाँच वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ी। □

3

दिल्ली विश्वविद्यालय में डॉ. नगेन्द्र

सन् 1952 डॉ. नगेन्द्र के जीवन में ऐतिहासिक मोड़ के रूप में आया। दिल्ली विश्वविद्यालय में तब तक हिन्दी विभाग का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। वह संस्कृत के परिशिष्ट के रूप में मौजूद ज़रूर था, पर उसके अध्यक्ष थे—महामहोपाध्याय पं. लक्ष्मीधर शास्त्री, जो स्वयं भी विश्वविद्यालय में नहीं, स्थानीय सेंट स्टीफेंस कॉलेज से संयुक्त विभाग के रूप में दोनों विषयों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था देखते थे। वे हिन्दी के नहीं, संस्कृत के विद्वान थे। शहर में गिने-चुने कॉलेज थे। इन कॉलेजों के हिन्दी विभाग कॉलेज में स्वतन्त्र होकर भी विश्वविद्यालय के प्रशासनिक तन्त्र में संस्कृत विभाग के अधीन थे। 1952 में रीडर के पद पर डॉ. नगेन्द्र की नियुक्ति के साथ हिन्दी विभाग संस्कृत विभाग की प्रभुसत्ता से स्वतन्त्र हो गया और डॉ. नगेन्द्र उसके पहले अध्यक्ष हुए।

महत्त्वपूर्ण बात विभाग का स्वतन्त्र होना नहीं था, ज़्यादा ध्यान देनेवाली बात यह थी, कि बहुत जल्दी कला-संकाय में विभाग की एक साख और प्रतिष्ठा क़ायम हो गयी। हिन्दी के वे विद्वान, जो स्थानीय कॉलेजों में डॉ. नगेन्द्र से कुछ वर्ष पहले विभागाध्यक्षों के रूप में नियुक्त हो चुके थे, उनके क़द्दावर व्यक्तित्व के सामने बौने लगने लगे थे। आमतौर पर दोयम दर्जे का विषय समझे जानेवाले हिन्दी साहित्य के विभागाध्यक्ष का कला-संकाय में ही नहीं, पूरे विश्वविद्यालय में बड़ी जल्दी एक दबदबा, एक रुतबा क़ायम हो गया। प्रशासनिक तन्त्र में डॉ. नगेन्द्र की राय का वज़न होता था। प्रोफ़ेसर तो वे चार साल बाद 1956 में हुए, पर विश्वविद्यालय में अपनी कर्मठता और लगन से उन्होंने विभाग को जो रूप देना आरम्भ किया, उसके कारण आरम्भ से ही उन्हें बहुत सम्मान मिला।

हिन्दी विद्या के क्षेत्र में उनकी भूमिका उतनी ही ऐतिहासिक है, जितनी स्वतन्त्रता से पहले डॉ. श्यामसुन्दर दास और डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की थी। ध्यान देने की बात यह है कि काशी और प्रयाग तो हिन्दी के सुदृढ़ केन्द्र पहले से

थे, लेकिन परम्परा से दिल्ली हिन्दी का केन्द्र कभी नहीं रही। वह हिन्दी का केन्द्र स्वाधीन भारत की राजधानी बनने के बाद ही बनी। दरअसल देश की उच्च-शिक्षा के नक़्शे पर, हिन्दी विभाग तो दूर, दिल्ली विश्वविद्यालय की भी कोई विशेष हैसियत नहीं थी। लेकिन देखते ही देखते एक ही दशक में डॉ. नगेन्द्र के नेतृत्व में दिल्ली विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग देश का सबसे बड़ा हिन्दी विभाग बन गया। विभाग के इस विकास का श्रेय डॉ. नगेन्द्र को ही जाता है।

पचास के दशक में हिन्दी विद्या का केन्द्र डॉ. नगेन्द्र के ही प्रयत्न से काशी और प्रयाग से सरककर दिल्ली आ गया। हिन्दी के विकास में इस घटना का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व है। हिन्दी विभाग के विकास और विस्तार में डॉ. नगेन्द्र के अमित उत्साह, काम करने की लगन, विवेक और दृढ़ संकल्प का हाथ तो था ही, परिस्थितियाँ भी उनके अनुकूल थीं। हिन्दी का राजभाषा होना, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का राष्ट्रपति होना और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का सांसद होकर दिल्ली आना डॉ. नगेन्द्र के लिए विशेष उपकारक सिद्ध हुआ। अपने समय के सभी बड़े रचनाकारों और राजपुरुषों से डॉ. नगेन्द्र का सम्बन्ध था। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के वे विशेष कृपापात्र थे। उनकी संध्याएँ प्रायः दद्दा के दक्षिण-दिल्ली स्थित निवास पर गुज़रती थीं। गुप्त जी का निवास साहित्यकारों का सम्मिलन-केन्द्र था। स्थानीय कवियों में दिनकर, नवीन, अज्ञेय, नरेन्द्र शर्मा जैसे वरिष्ठ रचनाकारों के अलावा अपेक्षाकृत युवा पीढ़ी के भी कई लोग वहाँ दिखाई पड़ते थे। इनके अलावा छायावादी कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी से और उत्तर-छायावादियों में 'बच्चन' से भी उनका बराबर सम्पर्क बना रहा । उनके समकालीन साहित्यकर्मियों में बहुत मेलजोल और आपसदारी थी। मतभेदों के बावजूद एक प्रकार का पारस्परिक सौहार्द और सम्मान था। उनके बीच भी डॉ. नगेन्द्र की छवि उस समय विभागाध्यक्ष आचार्य की उतनी ही थी, जितनी साहित्य के विश्वसनीय और मर्मज्ञ आलोचक की थी।

परिस्थितियों का अनुकूल होना संयोग की बात थी, किन्तु उन स्थितियों का हिन्दी के हित में इस्तेमाल करने के लिए जिस विवेक और कौशल की अपेक्षा थी, डॉ. नगेन्द्र के पास वह भरपूर था। वैसी कर्मठता और कल्पनाशीलता उनके समकालीनों में तो किसी दूसरे विभागाध्यक्ष में थी ही नहीं, उनके बाद भी दुर्लभ ही रही।

डॉ. नगेन्द्र के सामने सबसे बड़ी समस्या थी सुयोग्य सहयोगियों की। नामवर सिंह ने उनके बारे में सही लक्ष्य किया है कि ''डॉ. श्यामसुन्दर दास की तरह

डॉ. नगेन्द्र के साथ न तो रामचन्द्र शुक्ल थे, न लाला भगवानदीन और न ही केशवप्रसाद मिश्र। उनके पास डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की तरह रामकुमार वर्मा, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' और माताप्रसाद गुप्त जैसे अपने-अपने क्षेत्र के धुरंधर भी नहीं थे। इस अभाव की पूर्ति उन्होंने कुछ तो बाहर से विद्वानों को लाकर की और अधिकतर अपने ही यहाँ से सुयोग्य अध्यापकों की प्रशिक्षित पंक्ति तैयार की।'' बाहर से वे डॉ. उदयभानु सिंह, पं. कृपाशंकर शुक्ल, डॉ. भरतसिंह उपाध्याय जैसे पुरानी चाल के अध्ययनशीलन विद्वानों और डॉ. भोलानाथ तिवारी जैसे भाषाविज्ञानी को लाए। उन्हीं के प्रयत्न से स्थानीय कॉलेजों से डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. दशरथ ओझा, डॉ. सावित्री सिन्हा जैसे लोगों का विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवेश हुआ। पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात थी हिन्दी के रचनाकारों के प्रति उनका बर्ताव। उनमें न जातिवाद था, न क्षेत्रवाद और न ही सम्प्रदायवाद। भारत के किसी दूसरे विभागाध्यक्ष ने इतनी उदारता से रचनाकारों के लिए हिन्दी विभाग का प्रवेश द्वार खुला नहीं रखा था, जितना डॉ. नगेन्द्र ने। इस दृष्टि से वे सच्चे गुणग्राही थे। विभाग के हित को ध्यान में रखकर वे बड़ी संख्या में प्रतिभाशाली रचनाकारों और विद्वानों को ढूँढ़कर विभाग में लाए। नई चेतना और साहित्य की नई प्रवृत्तियों से उनके आलोचनात्मक मिज़ाज और साहित्यिक रुचि की संगति भले ही पूरी तरह न बैठती हो, पर इस सन्दर्भ में उन्होंने नए और पुराने के बीच भेद-भाव नहीं किया। नए रचनाकारों में स्व. देवीशंकर अवस्थी से लेकर रामदरश मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, कैलाश वाजपेयी, महीप सिंह, अजित कुमार, मन्नू भंडारी, स्नेहमयी चौधरी, विश्वनाथ त्रिपाठी, नित्यानन्द तिवारी, इन्दु जैन तथा और भी अनेक नए रचनाकारों का दिल्ली के हिन्दी विभागों में आना इसीलिए सम्भव हुआ, क्योंकि विभागाध्यक्ष डॉ. नगेन्द्र थे।

नए साहित्यकारों को प्रश्रय और प्रोत्साहन देने के लिए उनके मन में चुनौतियों का सामना करने जैसा उत्साह रहता था। इस सन्दर्भ में कुछ घटनाओं का ज़िक्र करना प्रासंगिक होगा। मोहन राकेश अपनी नाट्य-रचनाओं और विचलनशील स्वभाव, दोनों के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। सब जानते हुए भी डॉ. नगेन्द्र उन्हें आग्रहपूर्वक विभाग में ले आये। ज़ाहिर है कि उन्हें विश्वविद्यालय की अनुशासनात्मक कार्य-शैली रास न आ सकती थी, न आयी। कक्षाओं से ज़्यादा वे कला-संकाय के बाहर रेस्तरां में दिखायी पड़ते थे—अक्सर विद्यार्थियों से घिरे हुए। उन्होंने जल्दी ही अपनी दुनिया में लौट जाने का निर्णय ले लिया। डॉ. नगेन्द्र को इसकी आशंका उन्हें लाते समय भी थी।

ऐसा ही एक प्रसंग स्वर्गीय भारतभूषण अग्रवाल के सम्बन्ध में सामने आया। भारत जी साहित्य अकादेमी में थे। प्रभाकर माचवे से उनकी पटरी नहीं बैठती थी। लगातार चलनेवाली नोक-झोंक के कारण भारत जी क्षुब्ध और उद्विग्न रहते थे। अपने को मानसिक रूप में किसी गम्भीर काम में लगाने की गरज़ से उन्होंने डॉ. नगेन्द्र से दिल्ली विश्वविद्यालय में पी-एच.डी. के लिए पंजीकरण की पेशकश की। विश्वविद्यालय के नियमों में इसकी इजाज़त नहीं थी। भारत जी एक तो अंग्रेजी के एम.ए. और वह भी तृतीय श्रेणी में। पर डॉ. नगेन्द्र ठीक जानते थे कि उनकी प्रतिभा और क्षमता आये दिन पंजीकृत होनेवाले औसत हिन्दी विद्यार्थी की तुलना में कहीं बेहतर थी। उन्होंने भारत जी के प्रस्ताव का स्वागत किया। स्वयं विश्वविद्यालय और हिन्दी विभाग में डॉ. नगेन्द्र के विरोधी मौजूद थे। उधर माचवे जी बाहर से इस विरोध को हवा दे रहे थे। मोर्चे खिंच गये। विश्वविद्यालय की अकादमिक काउंसिल में जमकर बहस हुई। डॉ. नगेन्द्र ने प्रयोगशील कवि के पक्ष में इस लड़ाई को चुनौती मानकर, लगभग धर्मयुद्ध की तरह लड़ा और विजयी हुए। ऐसे प्रसंगों में उनका दुर्धर्ष योद्धा का रूप उभर आता था। यह बात अलग है कि एक बार पंजीकरण होने के बाद इस प्रसंग में भारत जी की गम्भीरता कुछ कम हो गयी। काम करने का उनका अपना ढंग था और साथ ही यह विश्वास भी कि आसन लगाकर बैठेंगे तो काम छह महीने में पूरा हो जाएगा। उधर डॉ. नगेन्द्र विश्वविद्यालय में अपनी प्रतिष्ठा को लेकर चिन्तित थे। लिहाज़ा शोधार्थी और निर्देशक के बीच खटपट शुरू हो गयी। नगेन्द्र जी भारत जी से तो सीधे कुछ नहीं कहते, जब-तब उनके प्रति अपनी नाराज़गी कुछ इस रूप में व्यक्त करते कि मैं भारत जी पर दबाव बनाए रखूँ। उस समय मैं भी उनसे यह कहने का साहस नहीं जुटा पाई कि "आप उनसे सीधे बात क्यों नहीं करते।" शायद ऐसा न होना अच्छा ही हुआ, क्योंकि आमना-सामना होने पर इस बात की पूरी आशंका थी कि भारत जी तुनककर भाग खड़े होते और हिन्दी जगत एक अत्यन्त उच्च कोटि के शोध-ग्रन्थ से वंचित रह जाता। शोध-प्रबन्ध की निर्धारित अवधि बीतने में जब कुछ ही महीने शेष रह गये तो भारत जी ने आसन जमा लिया। उनके पास इतना समय भी नहीं बचा था कि वे अपने ही लिखे को एकबार पढ़कर देख लें। इसलिए उन्होंने यह भार मुझ पर डाला। डॉ. नगेन्द्र इस पूरी प्रक्रिया के साक्षी थे। वे इस बात से भी बाख़बर थे कि भारत जी के अन्य 'नकारनामी' मित्र भी इस काम में उनकी यथासम्भव सहायता कर रहे हैं। डॉ. नगेन्द्र ने इसे अपने अहं का प्रश्न नहीं बनाया। शोध-प्रबन्ध पूरा

हुआ। पांडुलिपि डॉ. नगेन्द्र के सामने आयी। उन्होंने कोई सवाल नहीं पूछा। शोध-प्रबन्ध के पन्ने बहुत सहज भाव से उलटे-पलटे, बड़ी प्रसन्न मुद्रा में उस पर लिखा : "दस्तख़त करता हूँ ताकि सनद रहे" और वरिष्ठ कवि के सम्मान की रक्षा करते हुए हस्ताक्षर कर दिए।

एक बार अज्ञेय जी को विश्वविद्यालय में लाने का प्रस्ताव, किरोड़ीमल कॉलेज के प्रिंसिपल डॉ. सरूप सिंह के माध्यम से डॉ. नगेन्द्र के सामने आया। डॉ. नगेन्द्र की प्रतिक्रिया थी कि प्राध्यापक पद के लिए अपेक्षित अर्हताओं के कारण तकनीकी बाधा होगी। इसलिए उन्हें लेक्चरर के रूप में नहीं, प्रोफ़ेसर के रूप में ज़रूर लाया जा सकता है। उनके जैसा प्रसिद्ध साहित्यकार इस पद के सर्वथा योग्य है। यह उन दिनों की बात है, जब अज्ञेय जी के मन में वास्तव में विश्वविद्यालय में आने की कामना थी। उन्होंने अपनी इस इच्छा को, कई वर्ष बाद जोधपुर जाकर पूरा किया। डॉ. नगेन्द्र से नए साहित्य के प्रश्न को लेकर उनका मतभेद उस समय तक बहुत तीव्र हो चुका था। स्वभावतः उनके मन का संकोच आड़े आ गया, पर उन्हें लाने में अपनी झिझक को लेकर डॉ. नगेन्द्र काफ़ी समय तक बहुत विचलित रहे।

1950-70 का दौर डॉ. नगेन्द्र के चरम उत्कर्ष का काल था। मध्याह्न के सूर्य की तरह उनका प्रखर ताप पूरे देश के विश्वविद्यालयों पर छाया था। अन्य विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में उनके समकालीनों में उल्लेखनीय थे—डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. दीनदयाल गुप्त। पर शिक्षा-तन्त्र में हिन्दी विभागों को हैसियत और सम्मान दिलाने में उनका प्रताप सबसे प्रबल था। हिन्दी से सम्बद्ध हर सरकारी, ग़ैर-सरकारी समिति में उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी।

प्रशासन और व्यवस्था

डॉ. नगेन्द्र स्वभाव से योजना-विलासी थे। ख़ास बात यह थी कि वे योजनाएँ केवल बनाते नहीं थे, उन्हें उनकी तार्किक परिणति तक पहुँचाते थे। उनकी अध्यक्षता के काल में तो विभाग में कार्यक्रमों की गहमागहमी इस हद तक बनी रही कि दिल्ली विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग देश के दूसरे विश्वविद्यालयों के लिए 'मॉडल' हो गया। अध्यक्ष-पद से वे 1970 में अलग हो गये। पर इससे उनकी सक्रियता में विशेष अन्तर नहीं आया। जीवन के लगभग अन्तिम चरण तक वे स्वयं नियमित रूप से काम करते और दूसरों से काम लेते रहे।

हिन्दी के पठन-पाठन के लिए उन्होंने समयानुरूप नया पाठ्यक्रम तैयार किया। यह पाठ्यक्रम वर्षों तक देश के अन्य विश्वविद्यालयों के लिए 'मॉडल' बना रहा। उनके सरोकारों में से एक प्रमुख सरोकार था, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच आदान-प्रदान और सम्पर्क को बढ़ावा देना। इस सन्दर्भ में वे 'अनेकता में एकता' सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे। विश्वविद्यालयी शिक्षा में इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने स्नातकोत्तर स्तर पर एक समानान्तर पाठ्यक्रम तैयार किया, जिसे 'संयुक्त पाठ्यक्रम' (कम्पोजिट कोर्स) नाम दिया गया। इस पाठ्यक्रम में विद्यार्थी हिन्दी के साथ संस्कृत और किसी एक अन्य भारतीय भाषा और साहित्य की पढ़ाई करते थे। डॉ. नगेन्द्र की योजना थी कि इस पाठ्यक्रम के माध्यम से कुछ ऐसे विद्यार्थी तैयार किए जाएँ, जिनसे आगे चलकर भारतीय भाषाओं के बीच तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा चले। अच्छे अनुवादकों की ऐसी पीढ़ी तैयार हो, जिसके माध्यम से भारतीय भाषाओं और हिन्दी के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिले। जब तक डॉ. नगेन्द्र विभागाध्यक्ष रहे बड़ी सतर्कता से वे इस पाठ्यक्रम को बढ़ावा देते रहे। बाद में यह योजना परीक्षाधर्मी शिक्षा-पद्धति की ख़ामियों का शिकार हो गयी। कुल मिलाकर इसका दुरुपयोग परीक्षा में अच्छे अंक पाने के लिए किया जाने लगा। परीक्षार्थियों में कुछ अपवादों को छोड़कर किसी की गम्भीर रुचि न तुलनात्मक अध्ययन में थी और न ही अनुवाद में। इसके अलावा एम.ए. के परीक्षा-परिणाम में भी शिक्षकों और शिक्षार्थियों की कृपा से असन्तुलन पैदा होने लगा। स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि मजबूरन इसे बन्द करना पड़ा। डॉ. नगेन्द्र तब सेवानिवृत्त हो चुके थे। फिर भी, एक नेक संकल्प की इस दुःखद परिणति से वे बहुत आहत हुए थे।

विश्वविद्यालयी शिक्षा-तन्त्र में डॉ. नगेन्द्र के सामने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे सुधी आलोचक और डॉ. धीरेन्द्र वर्मा और बाबू श्यामसुन्दरदास जैसे समादृत अध्यापकों और कर्मठ एवं कुशल प्रशासकों के उदाहरण थे। नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना में बाबू श्यामसुन्दर दास की भूमिका सर्वविदित थी। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा भी भारत के समस्त हिन्दी अध्यापकों के लिए 'भारतीय हिन्दी परिषद्' की नींव डाल चुके थे। डॉ. नगेन्द्र ने इसी तर्ज पर अखिल भारतीय स्तर पर तो नहीं, पर दिल्ली विश्वविद्यालय के शोध-छात्रों और प्राध्यापकों के हित को ध्यान में रखते हुए 'हिन्दी अनुसंधान परिषद्' की स्थापना की। इस संस्था की नियमित

संगोष्ठियाँ हुआ करती थीं। इनमें एक ओर तो विभाग के शोधार्थियों को अपने शोध-पत्र वाचन का अवसर दिया जाता था, दूसरी ओर बाहर के रचनाकारों और विद्वानों को समय-समय पर आमन्त्रित कर भाषणों और परिचर्चाओं का आयोजन किया जाता था। परिषद् की गतिविधियों के माध्यम से विश्वविद्यालय में विचारोत्तेजक वातावरण बना रहता था।

□

4

काव्य-शास्त्रीय चिन्तन में अवदान

अनुसंधान परिषद् के तत्त्वावधान में उन्होंने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि पानेवाले कुछ आरम्भिक शोध-प्रबन्धों का प्रकाशन इसी परिषद् की देखरेख में हुआ। इसके अलावा उन्होंने संस्कृत के मानक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुवाद की योजना बनाई। इन ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत के शास्त्रज्ञ विद्वान आचार्य विश्वेश्वर ने किया। उन्होंने इनकी विस्तृत व्याख्याएँ भी की। स्वयं डॉ. नगेन्द्र ने इन ग्रन्थों की लम्बी भूमिकाएँ लिखकर इन्हें हिन्दी के पाठकों को सुलभ कराया। इन ग्रन्थों में क्रमशः आनन्दवर्धन के *ध्वन्यालोक* (1952), वामन-कृत *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति* (1954) और कुन्तक की रचना *वक्रोक्तिजीवित* (1955) का प्रकाशन हुआ।

ध्वन्यालोक की अपेक्षाकृत संक्षिप्त भूमिका डॉ. नगेन्द्र ने तब लिखी थी, जब वे आकाशवाणी में थे। शेष दो ग्रन्थों की लम्बी भूमिकाएँ *भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका* नाम से अलग भी प्रकाशित हुई। डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय काव्यशास्त्र में इनके विषय से सम्बन्धित सभी वक्तव्यों का अध्ययन करते हुए इन आचार्यों के सिद्धान्त का विवेचन किया। इसी क्रम में पश्चिम के साहित्यशास्त्र से उन्होंने इनका तुलनात्मक विश्लेषण भी किया। इस सन्दर्भ में उनका अंग्रेज़ी साहित्य और सिद्धान्तों का अध्ययन विशेष उपकारक हुआ। शास्त्रनिष्ठ आचार्य विश्वेश्वर की सरल हिन्दी व्याख्याओं और डॉ. नगेन्द्र की विशद तुलनात्मक भूमिकाओं से युक्त ये दोनों ग्रन्थ भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येताओं के लिए महत्त्वपूर्ण स्रोत-सामग्री के रूप में आज भी समादृत हैं।

इन भूमिकाओं के बाद डॉ. नगेन्द्र ने *रस-सिद्धान्त* नामक ग्रन्थ की रचना की। इसका प्रकाशन सन् 1964 में हुआ। वे इसे अपनी साहित्य-साधना की परिणति तथा उसका उत्तमांश कहते थे। इस ग्रन्थ का महत्त्व इस दृष्टि से है कि इससे पहले हिन्दी में संस्कृत आचार्यों द्वारा निरूपित रस-सिद्धान्त का परिचयात्मक ब्यौरा

तो मिलता है, किन्तु उसके विविध पक्षों का तात्त्विक विवेचन-विश्लेषण और उनसे सम्बद्ध समस्याओं की तार्किक परीक्षा करने का ऐसा व्यापक प्रयास पहले नहीं किया गया। इस दृष्टि से एकमात्र अपवाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं, जिन्होंने रस-प्रसंग में साधारणीकरण, रसानुभूति की प्रकृति, रसात्मक बोध के विविध रूप जैसे कई प्रकरणों पर चिन्तन करके मौलिक स्थापनाएँ कीं, पर डॉ. नगेन्द्र की तरह रस-सिद्धान्त के सभी पक्षों की विश्लेषणात्मक मीमांसा और भारतीय एवं पाश्चात्य सैद्धांतिकी से उसका तुलनात्मक अध्ययन पहले इस पैमाने पर नहीं किया गया था। यह बात अलग है कि उनके विवेचन से संस्कृतज्ञ विद्वानों की पूरी सहमति नहीं हुई। 'रस' की व्याख्या के बारे में आचार्य शुक्ल से भी डॉ. नगेन्द्र की सहमति नहीं थी। दोनों काव्य में अनुभूति और राग तत्त्व को प्राथमिकता देते थे। पर शुक्ल जी का बल 'विभाव' और 'विभावन व्यापार' पर था और डॉ. नगेन्द्र का भाव पर। आचार्य शुक्ल रस को सुख-दुःखात्मक माननेवाली संस्कृत के जैन आचार्य रामचन्द-गुणचन्द्र की और उसमें कोटि-क्रम स्वीकार करनेवाली परम्परा के समर्थक थे, और डॉ. नगेन्द्र रस को अखंड एकघन आनन्दरूप प्रतीति माननेवाली आचार्य अभिनवगुप्त की परम्परा के। पर शुक्ल जी के लिए उनके मन में पूरा सम्मान बना रहा। वस्तुतः कई दृष्टियों से वे आचार्य शुक्ल को अपना आदर्श मानते थे।

डॉ. नगेन्द्र के रस-विवेचन में यदि वस्तुवादी दृष्टि का अभाव और रोमानी दृष्टिकोण की प्रमुखता लक्षित की गयी तो यह अस्वाभाविक नहीं था। डॉ. नगेन्द्र उन आलोचकों में थे, जिन्होंने द्विवेदी युग की वस्तुनिष्ठ मानसिकता के विरुद्ध छायावाद के रोमानी भावबोध का समर्थन किया था और छायावादी कविता की सहानुभूतिपूर्ण समीक्षाएँ की थीं। उनकी पहली आलोचनात्मक कृति कवि सुमित्रानन्दन पन्त पर रची गयी थी, जिसका उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में 'ठीक-ठिकाने' की पुस्तक कहकर किया था। अतः यदि डॉ. नगेन्द्र ने आचार्य अभिनवगुप्त की परम्परा का अनुसरण करते हुए 'रस' की आत्मवादी व्याख्या की तो ऐसा करना उनके लिए स्वाभाविक ही समझा जाना चाहिए। उन्हें इसी ग्रन्थ पर वर्ष 1965 का 'साहित्य अकादेमी' पुरस्कार मिला था।

डॉ. नगेन्द्र ने संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में से चार प्रमुख सिद्धान्तों—रस, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति का तो विस्तृत विवेचन किया, पर अलंकार-सिद्धान्त का स्वतन्त्र रूप से विवेचन करने की आवश्यकता नहीं समझी। वस्तुतः आलोचना के प्रतिमान के रूप में अलंकार-सिद्धान्त की विशेष उपादेयता और प्रासंगिकता,

आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में कभी समझी ही नहीं गयी। अलंकार ही नहीं, संस्कृत काव्यशास्त्र की सम्पूर्ण सैद्धान्तिकी की आधुनिकता और प्रासंगिकता के बारे में भी उस समय विवाद उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। गद्य रचनाओं की विविधता ने इस प्रश्न को और जरूरी बना दिया था। रचनात्मक साहित्य पर भी विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। इस वस्तुस्थिति ने पश्चिमी आलोचना की कुछ अवधारणाओं और प्रतिमानों की ओर सहज रूप में आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया। इस क्रम में डॉ. नगेन्द्र ने भी *काव्यबिंब, शैली विज्ञान, मिथक और साहित्य नई समीक्षा : नए सन्दर्भ, साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र : सिद्धान्त और परिदृश्य* जैसी पुस्तकों की रचना की।

पश्चिमी सिद्धान्तों और अवधारणाओं पर इन ग्रन्थों की रचना के पीछे डॉ. नगेन्द्र के दो उद्देश्य प्रतीत होते हैं—एक तो वे इनसे भारतीय—विशेष रूप से हिन्दी पाठकों को परिचित कराना चाहते हैं और इस तरह एक सीमा तक एक ऐतिहासिक आवश्यकता को पूरा करते हैं। दूसरे वे भारतीय साहित्यशास्त्र में उपलब्ध समानान्तर सिद्धान्तों से उनकी तुलना करते चलते हैं। उनका आग्रह प्रायः भारतीय साहित्यशास्त्र से उनका सम्बन्ध जोड़ने का होता है। इसके अलावा वे उनकी व्याख्या के लिए साहित्येतर विषयों का भी यथावश्यक उपयोग करते दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए उनकी यह मान्यता कि काव्यबिंब अलंकारशास्त्र से तो सम्बद्ध है ही, मनोविज्ञान, नृ-नत्त्वविज्ञान, पुराणविद्या, समाजविज्ञान से भी किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध है। इसके अलावा भारतीय अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत अंलकार के साथ-साथ लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियों के साथ भी यह जुड़ा हुआ है। कहने का तात्पर्य यह कि वे जिस विषय पर विचार करते हैं, उसे यथासम्भव अध्ययन के व्यापक और विविध क्षेत्रों से जोड़कर देखने का प्रयत्न करते हैं। यह बात अलग है कि उनसे हर विषय पर सहमति सम्भव न हो, क्योंकि उनके दृष्टिकोण में भारतीय चिन्तन की श्रेष्ठता और सर्वांगता की धारणा गहरे संस्कार के रूप में लगभग बद्धमूल है। इसका प्रमाण है पाश्चात्य साहित्य की आधुनिक सैद्धान्तिकी के भारतीय मूलों की तलाश। समाजशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और 'मिथक' जैसी अवधारणा को विषय बनाकर लिखी गयी उनकी रचनाओं में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

डॉ. नगेन्द्र के चिन्तन में एक और स्थायी आग्रह बराबर लक्षित किया जा सकता है। उनका विश्वास था कि प्रतीयमान अनेकताओं के भीतर मूलभूत एकता के तत्त्व अनिवार्य रूप से वर्त्तमान होते हैं। इसलिए भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ

में वे इस अखिल भारतीय सामान्य तत्त्व की खोज करते थे और विश्व के सन्दर्भ में विश्वव्यापी एकता की। साहित्यशास्त्र की समस्याओं पर विचार करते हुए भी उनका यह विश्वासजन्य आग्रह बना रहा और उन्होंने अन्ततः *विश्व-साहित्यशास्त्र* नाम के ग्रन्थ का सम्पादन किया। इसी तर्ज़ पर उन्होंने जीवन के अन्तिम दौर में *विश्व काव्य चयनिका* नाम से, कालजयी रचनाओं का अनुवाद कराके एक संग्रह तैयार किया। इसमें कुछ अनुवाद उन्होंने स्वयं भी किए।

उनका मानना था कि यद्यपि हर देश की अपनी संस्कृति और परिवेश के अनुरूप अपना अलग ढंग का साहित्य होता है और इस साहित्य को लक्ष्य कर अपना-अपना साहित्यशास्त्र भी होता है, किन्तु इस भिन्नता के बावजूद प्रत्येक साहित्यशास्त्र में ऐसे तत्त्व निहित रहते हैं, जो सार्वभौम और शाश्वत होते हैं। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर विश्व-साहित्यशास्त्र की कल्पना को साकार किया जा सकता है। सार्वभौमिकता और शाश्वतता में उनकी इस निर्द्वन्द्व आस्था से ज़रूरी नहीं की सबकी सहमति हो, पर उन्होंने इस दृष्टि के तहत विषमताओं के बीच समानताओं की खोज का निरन्तर प्रयास किया।

इस प्रसंग में उनके निष्कर्ष कभी-कभी दूर की कौड़ी प्रतीत हो सकते हैं, पर उनकी नियत और सद्भाव पर सन्देह करने की गुंजाइश कम ही होती है। उदाहरण के लिए उन्होंने भामह की प्रसिद्ध काव्य परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ' और कुन्तक द्वारा प्रतिपादित शब्द-अर्थ के 'न्यूनातिरिक्त' सम्बन्ध का समानान्तर 'नई समीक्षा' और 'संरचनावादी समीक्षा' में खोज निकाला। इसी तरह काव्य-प्रयोजनों की पुरुषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) वाली भारतीय अवधारणा की आंशिक समतुल्यता उन्हें अरस्तू के मत में दिखाई पड़ी। 'सद्यःपरनिर्वृत्ति' और 'कान्तासम्मित उपदेश' को भी उन्होंने अरस्तू द्वारा प्रतिपादित शिक्षा और आनन्द से जोड़कर दिखा दिया। दो अलग संस्कृतियों और विचार परम्पराओं में जन्म लेनेवाली ये अवधारणाएँ सूक्ष्म विश्लेषण करने पर कितनी समान ठहरेंगी, कहा नहीं जा सकता। पर इतना तय है कि डॉ. नगेन्द्र के निष्कर्षों से अतिरिक्त आत्मविश्वास की शिकायत हो सकती है, जो कभी-कभी दुराग्रह की सीमा छूने लगता है, पर चतुराई या किसी क़िस्म का सम्प्रदायवाद उनकी मानसिक बनावट में नहीं था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की जो परम्परा भरत के *नाट्यशास्त्र* से आरम्भ हुई थी वह सत्रहवीं शताब्दी में पंडितराज जगन्नाथ के ग्रन्थ *रसगंगाधर* तक आकर लगभग समाप्त हो गयी। अगली दो शताब्दियों के दौरान, हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य-कवियों—केशव तथा चिन्तामणि से लेकर

प्रतापसाहि तक इस परम्परा की विकलांग उद्धरणी हिन्दी में होती रही। इन रचनाकारों की सबसे बड़ी सीमा थी—मौलिक चिन्तन का अभाव। स्वभावतः इनका लक्षण-निरूपण सर्वथा प्रभावहीन रहा। यह बात अलग है कि उदाहरणों के रूप में इन्होंने बड़ी सरस और मनोहारी काव्य-सृष्टि की। पर वहाँ भी अन्तर्वस्तु की अपेक्षा रचना-कौशल अधिक प्रभावी बन पड़ा।

आधुनिक युग में एक वर्ग उन परम्परावादी विद्वानों का था, जिन्होंने संस्कृत साहित्यशास्त्र की विरासत को यथासम्भव हिन्दी में संजोए रखने का काम किया। इनमें अर्जुनदास केडिया, कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', लाला भगवानदीन और रामदहिन मिश्र का नाम लिया जा सकता है। इनका योगदान मौलिक चिन्तन की दृष्टि से नहीं, बल्कि परम्परा को बनाए रखने के कारण स्वीकार किया जाता है। रामदहिन मिश्र ने अवश्य अलंकारों के उदाहरण के रूप में आधुनिक कविता के उद्धरण देकर एक परम्परागत सिद्धान्त को आधुनिक साहित्य से जोड़ने का सफल प्रयास किया। साथ ही उन्होंने अंग्रेज़ी कविता के प्रभाव से आधुनिक हिन्दी काव्य में लक्ष्य किए जानेवाले मानवीकरण, विशेषण विपर्यय जैसे अलंकारों की ओर भी हिन्दी के पाठकों का ध्यान आकर्षित किया।

साहित्यशास्त्र की दिशा में मौलिक चिन्तन करनेवाले हिन्दी आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद डॉ. नगेन्द्र का ही विशेष योगदान है। डॉ. नगेन्द्र के समकालीनों में नन्ददुलारे वाजपेयी और हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने भी कुछ प्रसंगों पर विचार किया है और शायद डॉ. नगेन्द्र की अपेक्षा अधिक शास्त्र मुक्त दृष्टि से। पर जितने एकाग्र और प्रतिबद्ध भाव से डॉ. नगेन्द्र ने संस्कृत काव्यशास्त्र की मूल्यवान सामग्री को हिन्दी साहित्य के पाठकों को सुलभ कराया, वैसा किसी अन्य विद्वान ने नहीं किया। उन्होंने इस दिशा में शोध को भी प्रोत्साहित किया और विद्यार्थियों की एक पूरी पीढ़ी को शास्त्रचेतस् बनाने की दिशा में वे विशेष रूप से प्रयत्नशील हुए। यह बात अलग है कि उनकी सारी सतर्कता और नेकनीयती के बावजूद मौलिक प्रतिभा और व्याख्या की क्षमता के अभाव में शास्त्राभ्यास जड़ लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया, जो आधुनिकता-विरोधी और पिष्टपेषण के आचार्य साबित हुए। ऐसे हाथों, साहित्य का क्या हश्र हो सकता था, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

डॉ. नगेन्द्र के भारतीय साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी चिन्तन से एक कठिनाई और सामने आयी। साहित्य के विभिन्न पक्षों का शास्त्र में जिस रूप में तत्त्व-विवेचन किया गया था, उन्होंने अनुवाद, व्याख्या-विश्लेषण के माध्यम से उनका सैद्धान्तिक

परिचय तो करा दिया, पर इन प्राचीन सिद्धान्तों की साहित्य के मूल्यांकन में व्यावहारिक उपयोगिता क्या होगी, इस प्रश्न से टकराने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। यह प्रश्न वस्तुतः इस विरासत की समकालीन प्रासंगिकता से सम्बन्ध रखता है। इसलिए रस-सिद्धान्त के अध्येताओं ने इस बारे में प्रायः सन्देह प्रकट किया है, "रसतत्त्व को काव्य निर्मिति और मूल्यांकन प्रक्रियाओं से सम्बद्ध कर देने से उनकी व्यापकता और सार्वभौमिकता तो सम्भवतः सिद्ध हो जायेगी। परन्तु रस तत्त्व की यह व्यापकता व्यापकता के लिए ही बनी रहेगी, व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता कुछ-कुछ सीमित ही रहेगी।" (*रस सिद्धान्त* : एक अभिनव पुनराख्यान, मनोहर काले, *डॉ. नगेन्द्र स्मृति-ग्रन्थ,* पृ. 175)

साहित्यशास्त्र सम्बन्धी प्राचीन भारतीय चिन्तन को आधुनिक पाठक के लिए प्रामाणिक रूप में सुलभ कराना, इस दिशा में पहला चरण था, जिसे डॉ. नगेन्द्र ने पूरी ज़िम्मेदारी से पूरा किया। इन सिद्धान्तों की व्यावहारिक उपयोगिता और आधुनिक युग में प्रासंगिकता का प्रश्न अब भी अनुत्तरित है और विद्वानों के लिए चुनौती की तरह खड़ा है।

डॉ. नगेन्द्र ने अपने शिक्षक जीवन का आरम्भ अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापन से किया था। अंग्रेज़ी साहित्य और चिन्तन-परम्परा से उनका सहज सम्बन्ध था। बाद में जब उन्होंने हिन्दी विभाग में आचार्य पद सम्हाला और उनकी रुचि काव्यशास्त्रीय अध्ययन की ओर हुई, तो काव्यशास्त्र की मूलभूत अवधारणाओं और समस्याओं के सन्दर्भ में वे पश्चिमी सैद्धान्तिकी की ओर भी उन्मुख हुए। उनके सामने शुक्ल जी का उदाहरण था, जिन्होंने अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए आइ. ए. रिचर्ड्स का उपयोग किया था और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को एक पाद-टिप्पणी में ख़ारिज कर दिया था।

डॉ. नगेन्द्र की विवेचन-पद्धति कुछ भिन्न थी। उनका प्रस्थान-बिन्दु भारतीय काव्य-सिद्धान्त थे। उनकी वृत्तियाँ तुलनात्मक अध्ययन में विशेष रूप से रमती थीं। वे कुछ मूल काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं और प्रश्नों को केन्द्र बनाते थे। पश्चिमी चिन्तन में उपलब्ध समानान्तर सिद्धान्तों का वह इस दृष्टि से चयन और अध्ययन करते थे कि उन्हें भारतीय चिन्तन-परम्परा में किस हद तक आत्मसात किया जा सकता है या फिर किसी कवि की रचना-प्रक्रिया और सहृदय की आस्वाद प्रक्रिया को समझने में उनकी कितनी उपादेयता हो सकती है? आत्मसात करने के लिए उसमें किस हद तक संशोधन या विस्तार किया जा सकता है? उनकी अपनी शक्ति और सीमाएँ क्या हैं। मुख्य बात उनके लिए यह है कि पश्चिम

के सिद्धान्तों और अन्तर्दृष्टियों का भारतीय परम्परा से समन्वय करते हुए, इस प्रक्रिया में भारतीय परम्परा के जीवन्त तत्त्वों का पुनरन्वेषण किया जाये। इस कार्य के लिए उन्होंने पश्चिम की काव्यशास्त्रीय विचार-परम्परा को उसकी समग्रता में आधार नहीं बनाया, बल्कि अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आधुनिक समीक्षकों के बीच से चुनाव किया। इनमें प्राचीनों में विशेष रूप से उन्होंने अरस्तू, लोंजाइनस और बीसवीं शताब्दी में क्रोचे, आइ. ए रिचर्ड्स, टी. एस. एलियट और नए समीक्षकों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इनके अलावा मिथक, शैली-विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और समाजशास्त्र जैसे विषयों पर लिखते हुए उन्होंने इन विषयों से सम्बद्ध मतों और उद्धरणों का उपयोग भी किया और यथाप्रसंग कुछ विचारकों का उल्लेख भी। पर उनके चुनाव के पीछे कोई विशेष दृष्टि या तर्क नहीं दिखाई पड़ता। वे पहले अपना मत स्थिर करते थे। उसके अनुसार विरोधी मतों का चयन उनकी काट करने के लिए और जहाँ उन्हें सहमति या समान्तरता दिखाई पड़ती है, वहाँ उनका उपयोग साक्ष्य के लिए करते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों का मत-विवेचन करते समय भी वे एक निश्चित पद्धति का प्रयोग करते हैं। वे जिस समीक्षक पर विचार करते हैं, उससे पहले उसके द्वारा विवेचित मूल महत्त्व के तात्त्विक विषय को रेखांकित करते हैं। उसके अभिमतों का सार प्रस्तुत कर, उनकी तर्क-शृंखला की संक्षिप्त व्याख्या देते हैं। उसके बाद विश्लेषण और तुलनात्मक विवेचन करके उनकी सीमाओं और शक्तियों का निर्धारण करते हैं और अन्त में निर्भ्रान्त शब्दों में अपना निर्णयात्मक मत प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने इस पद्धति का प्रयोग आचार्य शुक्ल और आइ. ए. रिचर्ड्स की तुलना करते हुए भी किया और टी. एस. एलियट के समीक्षा सिद्धान्तों पर विचार करते हुए भी।

टी. एस. एलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त डॉ. नगेन्द्र की अपनी साहित्यिक मान्यताओं के अनुकूल नहीं पड़ता था। वे काव्य को 'निश्छल आत्मभिव्यक्ति' मानते थे। इसलिए उन्हें एलियट के सिद्धान्त-निरूपण में आरम्भ में ही यह दुर्घटना घटित होती दिखाई दी कि 'वे मनोविज्ञान और दर्शन को बचाकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने बैठे हैं।'

डॉ. नगेन्द्र को इसलिए एलियट पर विचार करना ज़रूरी लगा होगा, क्योंकि छायावादोत्तर काव्य और समीक्षा पर एलियट का व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ रहा था। अज्ञेय ने तो उनके प्रसिद्ध निबन्ध 'ट्रेडिशन एंड द इंडिविज़ुअल टेलंट' का अनुवाद भी किया था। छायावादोत्तर काव्य-प्रवृत्तियाँ डॉ. नगेन्द्र की काव्याभिरुचि

से मेल नहीं खाती थीं, इसलिए उन्होंने यह भी अनदेखा कर दिया कि स्वयं एलियट ने बाद में अपनी ही बहुत सी स्थापनाओं को अनकहा कर दिया था। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि निरपेक्ष काव्य-सिद्धान्त के रूप में निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त की सीमाओं की ओर डॉ. नगेन्द्र ने बिलकुल सही इशारा किया है।

डॉ. नगेन्द्र ने आगे चलकर 'नई समीक्षा' पर एक विस्तृत निबन्ध (1970) लिखा। उन्होंने प्रयत्न किया कि हिन्दी जगत उसकी शक्ति और सीमा को ठीक-ठीक समझकर इस समीक्षा-पद्धति को आत्मसात करे। उन्होंने ऐसा करते हुए, संक्षेप में उन समीक्षा-सम्प्रदायों (नैतिक मानववाद, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद आदि) का भी समुचित लेखा-जोखा प्रस्तुत किया, जिनके विरुद्ध नए समीक्षकों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। नई समीक्षा के उदय और उसके प्रेरक प्रभावों का भी उन्होंने विवेचन किया, पर उनका यह अनुमान कि नई समीक्षा पर अस्तित्ववाद का प्रभाव पड़ा होगा, निराधार है। इस प्रसंग में डॉ. नगेन्द्र का एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने नई समीक्षा के कुछ आधारभूत शब्दों—टेंशन, आयरनी, स्ट्रक्चर, टेक्सचर, कंप्लेक्सिटी आदि की प्रामाणिक और बोधगम्य व्याख्या करके उन्हें हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ किया।

आधुनिक समीक्षकों के काव्य-सिद्धान्तों पर फुटकर निबन्ध लिखने के कुछ वर्ष बाद डॉ. नगेन्द्र ने अपना ध्यान प्राचीन विचारकों पर केन्द्रित किया। सम्भवतः संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अनुवाद कराने के सन्दर्भ में उन्हें पश्चिम की क्लासिक रचनाओं का विवेचन-विश्लेषण और अनुवाद प्रासंगिक लगा होगा। इस क्रम में उन्होंने सबसे पहले 'अरस्तू के काव्यशास्त्र' का अनुवाद और उस पर अपनी व्याख्यात्मक भूमिका प्रकाशित की। यह रचना अनुवादकों के लिए तो आदर्श कृति थी ही, इसकी भूमिका में उन्होंने पूर्व और पश्चिम की आलोचनात्मक दृष्टि की तुलनात्मक समीक्षा भी प्रस्तुत की। इसके एक ही वर्ष बाद उन्होंने लोंजाइनस के *पेरि इप्सुस* का अनुवाद *काव्य में उदात्त तत्त्व* के नाम से कराया।

अरस्तू और लोंजाइनस पाश्चात्य साहित्योलाचन की दो प्रमुख धाराओं (आभिजात्यवाद और स्वच्छन्दतावाद) के प्रवर्तक हैं। अरस्तू के बाद पाश्चात्य साहित्यालोचन का बहुत बड़ा भाग उनके साथ वाद-विवाद और संवाद के रूप में विकसित हुआ। अरस्तू ने जब पहली बार कला के सन्दर्भ में अनुकरण सिद्धान्त की स्थापना की, उसके बाद यह सिद्धान्त बराबर व्याख्या-विश्लेषण का विषय बना रहा। यह सिलसिला पश्चिम में नवजागरण के साथ आरम्भ हुआ था और उसके बाद बीसवीं शताब्दी के मध्य तक नए समीक्षकों, शिकागो-सम्प्रदाय के नव

अरस्तूवादियों और नाट्य-समीक्षकों, सभी के विचार के केन्द्र में रहा और उसकी अनेक व्याख्याएँ सामने आईं। अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त को भी तरह-तरह समझने-समझाने के प्रयास बराबर होते रहे। दरअसल इसमें से पहले सिद्धान्त का सम्बन्ध काव्य के सृजन और दूसरे का काव्यास्वाद की प्रक्रिया से है, अतः दोनों काव्य-चिन्तन की दो मूल समस्याओं के प्रसंग में विचारणीय हैं।

डॉ. नगेन्द्र ने अपनी व्याख्या का मूल आधार बूचर की कृति *एरिस्टॉटिल्स थिअरी ऑफ़ पोयट्री एंड फ़ाइन आर्ट* (1894) के संशोधित चतुर्थ संस्करण (1970) को बनाया। वस्तुतः पश्चिम में बुचर की इस व्याख्या का बीसवीं शती के चौथे दशक तक लगभग एकछत्र साम्राज्य रहा और अनेक परवर्ती अध्येताओं ने उन्हीं के मत की पुनर्व्याख्या की या उसमें संशोधन किया। डॉ. नगेन्द्र ने भी कुल मिलाकर बुचर को ही आधार बनाकर अपनी भूमिका लिखी। उन्होंने इस प्रसंग में नए समीक्षकों या नव-अरस्तूवादी विचारकों की व्याख्याओं पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता नहीं समझी। परिणामतः उनके विवेचन में स्पष्टता के बावजूद ऐकांगिकता आ गयी।

काव्य में उदात्त-तत्त्व की भूमिका अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। वैसे भी उसमें डॉ. नगेन्द्र का आग्रह मुख्य रूप से लोंजाइनस की उदात्त सम्बन्धी अवधारणा से हिन्दी के पाठकों का परिचय कराना ही प्रतीत होता है, उसकी विस्तृत व्याख्या करना नहीं। पश्चिम में भी लोंजाइनस की कृति कई सदियों तक अनुपलब्ध रहने के बाद खण्डित रूप में प्रकाश में आयी थी। उनकी दृष्टि भी परम्परागत दृष्टि से कुछ हटकर थी। वे आभिजात्यवाद की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के अधिक निकट दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने सम्भवतः इसीलिए पहले स्वच्छन्दतावादियों का, और फिर नए समीक्षकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया।

काव्य को प्रकृति का अनुकरण माननेवाली परम्परा से भिन्न, लोंजाइनस ने पहली बार काव्य को कवि के गम्भीर व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति माननेवाली रोमानवादी संकल्पना प्रस्तुत की। डॉ. नगेन्द्र ने उनकी उदात्त की संकल्पना को भारतीय रस-सिद्धान्त की शब्दावली में प्रस्तुत करने के साथ रस की पारम्परिक शब्दावली को नई ताज़गी और स्फूर्ति से समन्वित कर दिया। उदाहरण के लिए :

"विभाव-रूप में उदात्त से अभिप्राय..."

"भाव-रूप में उदात्त से तात्पर्य..."

इतना ही नहीं उन्होंने बिना किसी संकोच के उदारतापूर्वक यह स्वीकार किया कि : "उदात्त की कल्पना तो हमारे यहाँ थी, किन्तु विधान नहीं है। मैं इसे भारतीय

काव्यशास्त्र का एक अभाव ही मानता हूँ, क्योंकि औदात्य काव्यकला के गौरव का मानदंड है।''

लोंजाइनस की उदात्त-विषयक अवधारणा का डॉ. नगेन्द्र पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा था। इसका प्रमाण है कि अपनी प्रौढ़ावस्था में, जब वे व्यावहारिक आलोचना करना लगभग बन्द कर चुके थे, उन्होंने छायावाद की शीर्ष रचनाओं *कामायनी* और राम की शक्ति पूजा की समीक्षा की। इन रचनाओं का उन्होंने अपने शैक्षिक जीवन में वर्षों तक अध्यापन किया था। स्वभावतः इन समीक्षाओं में उनकी अध्यापकीय वृत्ति की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि उनकी समीक्षा करते हुए उन्होंने 'औदात्य' को आलोचना के प्रतिमान के रूप में प्रस्तावित किया है।

अरस्तू के ऐतिहासिक महत्त्व के कारण डॉ. नगेन्द्र ने उसके 'काव्यशास्त्र' का विवेचन-विश्लेषण तो किया, लेकिन उनका निजी झुकाव लोंजाइनस के प्रति था। दरअसल मूलतः रोमानी काव्याभिरुचि होने के कारण वे वस्तुवादी समीक्षा-सिद्धान्तों को विवेचन का विषय तो बना सकते थे, पर उनके साथ पूरी तरह तादात्म्य नहीं कर पाते थे। इसी कारण अरस्तू की आलोचना के लिए उन्होंने क्रोचे का सहारा लिया।

डॉ. नगेन्द्र की व्याख्या-विवेचन से भले ही किसी की पूरी सहमति न हो, पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी जगत के निमित्त पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्त के व्याख्याता के रूप में डॉ. नगेन्द्र का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका लक्ष्य रहा है भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-परम्पराओं के श्रेष्ठ तत्त्वों का अनुसंधान करके उन्हें हिन्दी के पाठक और आलोचक के लिए इस रूप में सुलभ कराना कि भारतीय समीक्षा-पद्धति में उदीयमान सर्जनात्मक साहित्य को परखने की कसौटी का विस्तार किया जा सके।

सैद्धान्तिकी के प्रति डॉ. नगेन्द्र के दृष्टिकोण में एक विशेषता, जो सर्वाधिक स्पष्ट है, वह है उनका समन्वयवाद। काव्यशास्त्र भारतीय हो या पाश्चात्य, उनकी मूलग्राही चेतना बराबर उनकी अनेकता में एकता, भेदों में अभेद और सर्वव्यापी एकसूत्रता का संधान करती रहती है। उनके प्रायः सभी आलोचना ग्रन्थ जैसे उनकी इसी अवधारणा को प्रमाणित करने के लिए रचे गये कि ''भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक-दूसरे के पूरक हैं और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज सम्भव है।''

इस आकांक्षा की पूर्ति उन्होंने 'रस-सिद्धान्त' की अपने ढंग की व्याख्या करके की, ''शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है, जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य का, सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।'' संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित 'रस-सिद्धान्त' में से डॉ. नगेन्द्र ने 'भाव' या 'राग' तत्त्व को महत्त्व देते हुए, उसे विभावगत प्रपंच की अनिवार्यता से जैसे मुक्त कर दिया। वे हर साहित्यिक अभिव्यक्ति को मूलतः आत्माभिव्यक्ति स्वीकार करते थे। इसलिए उसका रचनाकार के रागात्मक जीवन से अन्तरंग और अनिवार्य सम्बन्ध होता है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार इस बात को ध्यान में रखकर एक ऐसे आलोचनात्मक निकष की कल्पना की जा सकती है, जिसके आधार पर विश्व के संपूर्ण साहित्य को परखा जा सकता है। उनकी दृष्टि में यह निकष 'रस-सिद्धान्त' है—शास्त्र मुक्त रूप में। इतना ही नहीं, जब वे काव्य का एकमात्र प्रयोजन 'आनन्द' मानते हैं, तो 'रस' 'आनन्द' का पर्याय हो जाता है और 'रसानुभूति' 'आनन्दानुभूति' का। उनकी दृष्टि में नैतिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अर्थात् शैलीगत मूल्य आनुषंगिक और माध्यमिक मूल्य हैं। वे साधन मात्र हैं और कला का चरम और आत्यंतिक मूल्य तो 'रस' या 'आनन्द' ही है। पूर्व और पश्चिम के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के साथ भी वे रस-सिद्धान्त का सद्भाव खोज लेते हैं। उनके अनुसार रस-सिद्धान्त के आलोक में आभिजात्यवादी और स्वच्छन्दतावादी किसी भी रचना के साथ न्याय किया जा सकता है। यहाँ तक कि नई समीक्षा के साथ भी उसका कोई विरोध नहीं है। रस-सिद्धान्त की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता के बारे में उन्होंने बड़े आश्वस्त भाव से भविष्यवाणी की कि : ''रस-सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील मानववादी आधार के कारण, इस युग में नहीं, भविष्य में भी काव्य के मूल्यांकन का मानक सिद्धान्त बना रहेगा।''

काव्य के मूल्यांकन के लिए कोई सिद्धान्त सार्वकालिक या सार्वभौमिक हो सकता है, इस कल्पना के पीछे डॉ. नगेन्द्र का यह विश्वास था कि मानव-स्वभाव सर्वत्र एक-सा आनन्दवादी है। इसी कारण काव्य-सिद्धान्तों के निरूपण में वे बराबर आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं। यह उनकी निजी मान्यता है, जिससे एक सीमा तक सहमति हो सकती है। पर आगे बढ़कर *रस-सिद्धान्त* के अंतिम अध्याय में उन्होंने इस सिद्धांत की शक्ति और सीमा पर विचार करते हुए यूरोप के विभिन्न अधुनातन साहित्यिक निकायों और वादों में भी रस-सिद्धांत का अविरोध

खोज लिया। इन सिद्धान्तों में यथार्थवाद, प्रभाववाद, दादावाद, अतियथार्थवाद आदि भी शामिल है। ज़ाहिर है कि इससे बहुतों की सहमति नहीं होगी। विवादों का निबटारा वे अक्सर यह कहकर करते हैं कि ''विवाद शाब्दिक है, तात्त्विक नहीं।''

इस पद्धति से एक ओर पश्चिम के सभी वाद रस-सिद्धान्त की व्याप्ति के भीतर आ जाते हैं और उधर रस ''अनुभूति की सीमा के भीतर रहकर अलंकार, रीति, गुण, वक्रता और ध्वनि सभी के साथ पूर्ण सहयोग करता है और सभी का उचित सहयोग प्राप्त करता है।'' रस की ऐसी अवधारणा उसे एक ऐसे शाश्वत मानदण्ड का दर्जा दे देती है, जिसका विनियोग वाल्मीकि से लेकर गिरिजाकुमार माथुर तक की रचनाओं के मूल्यांकन के लिए किया जा सकता है; बशर्ते इस आधारभूत स्थापना को स्वीकार कर लिया जाए कि काव्य का सम्बन्ध मानवीय अनुभूति से या मानव की रागात्मक चेतना से है।

□

5

आलोचक डॉ. नगेन्द्र

डॉ. नगेन्द्र की ख्याति मूलतः स्वच्छन्दतावादी काव्य-समीक्षक के रूप में थी। यद्यपि उनसे पहले आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य शुक्ल की नैतिक काव्य-दृष्टि का विरोध करते हुए साहित्य की स्वतन्त्र संस्कृति की वकालत कर चुके थे, पर स्वच्छन्दतावाद को भारतीय रस-दृष्टि से संश्लिष्ट करने का कार्य डॉ. नगेन्द्र ने ही किया। इस तरह उन्होंने आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के सौष्ठववाद और आचार्य शुक्ल के रसवाद के बीच से अपनी राह बनायी। वे अपनी मान्यताओं में आचार्य वाजपेयी के अधिक निकट हैं। दोनों ही साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं और उसकी स्वायत्तता के समर्थक हैं। दोनों काव्य में सौन्दर्य-चेतना को महत्त्व देते हैं और भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों के बीच समन्वय स्थापित करते हैं। पर डॉ. नगेन्द्र की दृष्टि और पद्धति में अध्यापक की निस्संगता और व्यवस्था है और वाजपेयी जी में प्रभावजनित आवेग अधिक है।

डॉ. नगेन्द्र के आलोचना में प्रवेश करने से पहले आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी भी इस क्षेत्र में कुछ दूर तक अपना स्थान बना चुके थे। डॉ. नगेन्द्र ने अपने निबन्ध 'आधुनिक हिन्दी काव्य के आलोचक' में इन दोनों आचार्यों की आलोचना की विशेषताओं को लक्ष्य किया है। वाजपेयी जी का महत्त्व उन्होंने हिन्दी के उस पहले आलोचक के रूप में स्वीकार किया, "जिसने निर्भीक और निर्भ्रान्त होकर छायावाद के महत्त्व को स्वीकृत और प्रतिष्ठित किया।" उन्हें वाजपेयी जी की आलोचना की गम्भीरता में गहरे जाकर उन्हें ग्रहण करने के प्रयत्न ने आकर्षित किया, पर छायावाद पर दार्शनिकता का आवरण चढ़ाने की प्रवृत्ति को उन्होंने दोष समझा। उन्हें लगा कि "कलापक्ष में इन्हें जैसे कुछ कहने को ही नहीं था।" हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के संस्कृत साहित्य के गहन और विस्तृत अध्ययन ने भी डॉ. नगेन्द्र को प्रभावित किया। नवीन काव्य-ग्रन्थों की उनकी आलोचना को, परिमाण में कम होने पर भी नन्ददुलारे वाजपेयी और शान्तिप्रिय द्विवेदी की तुलना

में वे पुष्ट और सुथरी मानते थे। उनका कहना था कि ''साथ ही शास्त्रीय होने के कारण हिन्दी पाठकों पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा।'' शान्तिप्रिय द्विवेदी के बारे में भी उनकी स्पष्ट राय थी कि वे ''छायावाद के रस का आस्वादन तो करा सके, लेकिन स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके।'' कहने का तात्पर्य यह है कि वे इन आलोचकों की शक्ति और सीमा के प्रति सतर्क थे। अतः उन्होंने उनकी आलोचना के गुणों को आत्मसात् करके उनका विकास करने का और दोषों से भरसक बचने का प्रयास किया।

डॉ. नगेन्द्र ने अपना पहला समीक्षात्मक निबन्ध 1937 ई. में 'छायावाद' पर लिखा और आलोचना-क्रम की सिलसिलेवार शुरुआत 'सुमित्रानन्दन पन्त' की समीक्षा से की थी। इस क्रम में उन्होंने छायावाद की व्याख्या करते हुए कहा, ''स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही 'छायावाद' का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है, इसकी परिधि में सब प्रकार के बाह्य रूप-रंग आदि सन्निहित हैं और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगिता के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य का विद्रोह और काव्य के बंधनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना और टेकनीक का विद्रोह।'' छायावाद के बारे में उनका सूत्र 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' वर्षों तक छायावाद की मानक परिभाषा के रूप में उद्धृत होता रहा। उन्होंने आगे यह भी कहा था कि ''अंग्रेज़ी 'रोमांटिक रिवाइवल' की भाँति लगभग एक-सी परिस्थिति में जन्म-ग्रहण करने के कारण आधुनिक 'छायावाद' भी एक विशेष प्रकार की जागृति का साहित्यिक रूप है, जिसकी नींव 'सौन्दर्य' और 'अद्‌भुत' के मिश्रण पर स्थित है।'' उनकी इस व्याख्या में 'भावुकता', 'मानसिक स्वातन्त्र्य', 'स्वच्छन्द कल्पना', 'सौन्दर्य और अद्‌भुत का मिश्रण' जैसे पद उनके रोमानी रुझान की ओर संकेत करते हैं। छायावाद के बारे में उनकी आलोचना की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने 'सुन्दर' और 'सरस' शब्दों के बीच मैत्री स्वीकार कर सौन्दर्यानुभूति की पाश्चात्य अवधारणा के साथ 'रसानुभूति' की भारतीय अवधारणा में अभिन्नता स्थापित कर दी। इस तरह उनका रस-चिन्तन शुक्ल जी से अलग हो गया। शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति में 'अतीन्द्रिय' और 'अगोचर' के लिए कोई स्थान नहीं था। डॉ. नगेन्द्र ने 'सौन्दर्य-चेतना' को रस के साथ जोड़कर उसकी भाववादी व्याख्या की और इस तरह उसकी परिधि में 'रहस्यानुभूति' के लिए स्थान बना लिया। शुक्ल जी को एक ओर 'सौन्दर्य' की पाश्चात्य अवधारणा से विशेष लगाव नहीं था, दूसरी ओर वे काव्य के क्षेत्र में 'रहस्यानुभूति' से बराबर परहेज़ करते रहे। डॉ. नगेन्द्र ने 'रहस्यवाद' से 'रसवाद'

की संगति बैठाकर छायावाद की सहानुभूतिपूर्ण आलोचना का मार्ग निकाल लिया। इतना ही नहीं उन्होंने खींचतान कर पश्चिम की सभी आलोचना-पद्धतियों से 'रसवाद' की संगति बैठा ली।

यह रास्ता अपनाने के बाद उन्हें नए-पुराने हर तरह के काव्य की आलोचना करने में कोई दिक़्क़त पेश नहीं आयी। वे अविकल भाव से सबमें रस की सत्ता प्रमाणित करते रहे। वे सिद्धान्ततः नए-पुराने के बीच भेद नहीं मानते थे, "कविता या रस के साहित्य के सम्बन्ध में नए-पुराने का क़ायल नहीं हूँ। तत्त्व-दृष्टि से जिस तरह नए और पुराने आदमी का भेद करना बेमानी है, उसी तरह नए या पुराने काव्य में आत्मा का भेद मानना भी निरर्थक है।" सिद्धान्त रूप में इस स्थापना के बावजूद व्यावहारिक समीक्षा के लिए उन्होंने जिन कवियों का चुनाव किया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें वे ही कवि रास आते थे, जिनकी रचनाओं में रोमानी तत्त्व मौजूद हों। इस दृष्टि से उन्होंने आधुनिक कवियों में सुमित्रानंदन पन्त, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सियारामशरण गुप्त, रामधारी सिंह 'दिनकर' और नए कवियों में गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवि का चुनाव किया। ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने गिरिजाकुमार माथुर की कविता को 'रूप' और 'आभा' के सामंजस्य के कारण पसन्द किया। इसके अलावा इसलिए भी कि उनका शब्द-विधान, उनकी बिम्ब-योजना और उनका 'स्वर-लय-विन्यास' मोहक और विशिष्ट है, और 'प्रगीत तत्त्व' समृद्ध है। यह बात अलग है कि उन्होंने इस बात की भी प्रशंसा की कि काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए गिरिजाकुमार माथुर ने विज्ञान के नए उपकरणों का चयन विवेकपूर्वक किया है। 'नई कविता' के निर्माताओं में डॉ. नगेन्द्र गिरिजाकुमार माथुर को अन्यतम मानते थे। कहना न होगा, डॉ. नगेन्द्र जिन विशेषताओं के कारण गिरिजाकुमार माथुर के काव्य के प्रशंसक हैं, वे रूमानी भावबोध के निकट हैं।

भाववादी रूमानियत के आग्रह और शाश्वतवाद में अटूट विश्वास के कारण डॉ. नगेन्द्र का सारा काव्य-चिन्तन और समीक्षा-दृष्टि सहज रूप में इतिहास-निरपेक्ष और आत्मनिष्ठ हो गयी।

डॉ. नगेन्द्र ने अपने शोध-प्रबन्ध (देव और उनकी कविता) और फुटकर निबन्धों के अलावा व्यावहारिक समीक्षा की तीन पुस्तकों की रचना की—*सुमित्रानन्दन पन्त* (1938 ई.), *साकेत : एक अध्ययन* (1939 ई.) और *कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ* (1962 ई.)। अपनी दो आरम्भिक रचनाओं में उन्होंने बहुत दूर तक आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति का ही अनुसरण किया। उन्होंने पन्त की

कला का विवेचन करते हुए जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, वह भी आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक पदावली से बहुत भिन्न नहीं है। उदाहरण के लिए दृश्य-विधान, चित्रमय विशेषण, एक शब्द-चित्र, व्यंजनापूर्ण शब्द-प्रयोग, वर्ण-परिज्ञान आदि पर विचार करके, 'छायावाद' की कला के मूल्यांकन को उन्होंने कुछ और आगे बढ़ाया। इस पदावली पर पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है।

इसका यह आशय नहीं कि उन्होंने इस प्रसंग में भारतीय काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों की उपेक्षा की। उन्होंने पन्त की कविता में भारतीय अलंकारों का निर्देश तो किया, पर अन्त में टिप्पणी की कि उनकी अलंकार-योजना में पश्चिमी पालिश अधिक है। उन्होंने यह कहा कि पश्चिम में अलंकार मुख्यतः लक्षणामूलक हैं, जिनका पन्त जी ने अच्छा उपयोग किया है। पन्त की आलोचना करते हुए भी वे अपने रसाग्रह को नहीं भूलते। 'ग्रन्थि' को उन्होंने विप्रलम्भ शृंगार की रचना माना। 'परिवर्तन' में उन्हें शृंगार का अरुण रंग भी दिखाई दिया और 'बीभत्स का नीला रंग' भी। सामान्यतः अन्तर्वस्तु का विवेचन वे रसधर्मी शब्दावली में करते हैं, और शैली का पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में प्रचलित शब्दावली का सहारा लेकर। रस की चर्चा करते हुए उन्होंने मौलिक उद्‌भावनाएँ भी की हैं। *ग्राम्या* में हृदय और बुद्धि के द्वन्द्व को लक्ष्य करते हुए उन्होंने कहा कि उपर्युक्त द्वन्द्व के कारण ये कविताएँ आलोचनात्मक हो गयी हैं। इसलिए इनमें "एक प्रकार का बौद्धिक रस मिलता है, जो अपने शास्त्रीय रस से भिन्न है।" ऐसी कविताओं से प्राप्त होने वाले आनन्द को वे 'अभिज्ञान का आनन्द' (Pleasure of Recognition) कहकर समझाते हैं। 'बौद्धिक रस' की यह कल्पना एक नई बात है।

साकेत : एक अध्ययन में मुख्यतः रसशास्त्र की शब्दावली का ही प्रयोग किया गया है। *साकेत* की कथावस्तु पर विचार करने के बाद उन्होंने '*साकेत* के गार्हस्थ्य चित्र', '*साकेत* में विरह' और '*साकेत* के भाव-पूर्ण स्थल' शीर्षक तीन अध्यायों में गुप्त जी की भावमयता का निरूपण किया है। उन्होंने *साकेत* में शृंगार रस की प्रधानता बताते हुए उसके दोनों पक्षों 'संयोग' और 'वियोग' की चर्चा तो की है, 'वियोग' की प्रधानता के कारण वियोग की शास्त्र-निरूपित काम-दशाएँ भी खोज लीं। इसके अलावा उसमें शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों और उनसे सम्बन्धित संचारी भावों की यथास्थान व्यंजना का भी उन्होंने ज़िक्र किया। उनकी मौलिकता इस बात में प्रकट होती है कि उन्होंने मनोभावों का सम्बन्ध जीवन के क्रिया-व्यापारों, पात्रों की मनोदशा और चरित्र-विन्यास तथा

कथा-संगठन के साथ जोड़कर रस-विवेचन की रूढ़ शास्त्रीय पद्धति से अपने को अलगा लिया। इतना ही नहीं *साकेत* के सांस्कृतिक आधार की चर्चा करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने उस पर समकालीन विचार-पद्धतियों के प्रभाव को लक्ष्य करते हुए निष्कर्ष निकाला, ''अपनी संस्कृति का प्रभाव तो सभी कवियों पर थोड़ा-बहुत पड़ता है। परन्तु जिन मनस्वियों की कविता लोक-मंगल से प्रेरित होकर अपने देश और जाति की संस्कृति की प्रतिष्ठा एवं संरक्षा करती है, वे अनेक नहीं होते। हमारे 'तुलसी', 'प्रसाद' और 'मैथिलीशरण गुप्त' ऐसे ही कवि हैं।''

चरित्रों के बारे में उन्होंने गुप्त जी को इस बात का श्रेय दिया कि वैज्ञानिक युग के प्रभाव के कारण वे अमानवीय चरित्रों की अवतारणा नहीं करते। उनकी शैली का विश्लेषण करने के लिए उन्होंने जिस पदावली का सहारा लिया, उस पर पश्चिमी समीक्षा-प्रणाली की तो छाप है ही, उन्होंने उसमें छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की भी तलाश की है। गुप्त जी के अभिव्यंजना-कौशल का वर्णन करते हुए उन्होंने उनमें 'प्रस्तुत के स्थान पर प्रतीक का प्रयोग, 'प्रस्तुत-वर्णन के पीछे अप्रस्तुत-चेतना-चित्र', लक्षणा-व्यंजना पर आश्रित वर्णन प्रणालियों और 'अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के आच्छादन' जैसी युक्तियों का उद्घाटन किया। इनमें से कुछ विशेषताओं की चर्चा छायावाद के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल उनसे पहले कर चुके थे। इस तरह उन्होंने आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति का ही और विकास किया।

डॉ. नगेन्द्र की आलोचना की भाषा में, इस आरम्भ काल में अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी बहुत दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं वे अनावश्यक रूप से Action (कार्य) Conversation (बोलचाल) Lyric (प्रगीत) Underline (रेखांकित) जैसे शब्दों का व्यवहार करते हैं, जिनके हिन्दी पर्याय पर्याप्त प्रचलित हैं।

कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ (1962) में व्यावहारिक आलोचना के प्रतिमान के रूप में 'रस-सिद्धान्त' की व्यवहार्यता को लेकर एक और कठिनाई सामने आयी। उन्होंने आरम्भ ही इस वाक्य से किया कि ''काव्य का मूल प्रयोजन है—रसास्वादन, कम से कम *कामायनी* तक तो यह स्थापना सर्वथा मान्य है ही, आगे की बात आगे देखेंगे।'' जिस समय इस कृति का प्रकाशन हुआ, तब तक *कामायनी* की समीक्षा के लिए 'रस-सिद्धान्त' वैसा 'सर्वथा मान्य' सिद्धान्त नहीं रह गया था, जैसा डॉ. नगेन्द्र ने कहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'रसास्वादन' की जिस रूप में व्याख्या की उससे रस की परम्परावादी शास्त्रीय अवधारणा के बारे में बहुत से सवाल खड़े होते हैं। उन्होंने स्वयं 'रसास्वादन' को समझाने के लिए आइ. ए. रिचर्ड्स द्वारा निरूपित काव्यास्वादन की प्रक्रिया का सहारा लिया।

कामायनी के 'महाकाव्यत्व' को उन्होंने लोंजाइनस की 'उदात्त' सम्बन्धी अवधारणा के सहारे प्रमाणित किया। शैली की विशेषताओं का निरूपण करते हुए उन्होंने पश्चिम की आलोचना में प्रचलित शब्दावली का उपयोग किया। उनका यह कथन कि 'साधारणीकरण' के लिए कवि ने रूपक की भावमय पद्धति ग्रहण की है, 'साधारणीकरण' की अवधारणा के बारे में प्रश्न खड़े करता है। उन्होंने *कामायनी* के विविध प्रसंगों में अनेक रसों की स्थिति भी दिखाई है और उसमें 'रूपक' तत्त्व की व्याख्या पात्रों के प्रतीकार्थ बताते हुए की है।

यही स्थिति *कामायनी* की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए दिखाई पड़ती है। उनके अनुसार *कामायनी* का मूल दर्शन तो 'आनन्दवादी शैवाद्वैत' है, लेकिन उन्होंने उसमें बौद्धदर्शन के विभिन्न पक्षों से लेकर वर्तमान वैज्ञानिक चिन्तन के भी अनेक सिद्धान्त तरह-तरह के तर्क देकर समाहित कर लिए। यही नहीं रिचर्ड्स का अन्तर्वृत्तियों का समीकरण, आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित 'हृदय की मुक्तावस्था', 'रस दशा' और 'अभेद सामरस्य', सब *कामायनी* के आस्वाद में अभिन्न समरस रूप में घटित होते दिखायी पड़ते हैं। *कामायनी* का समग्र मूल्यांकन करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने यह स्वीकार किया कि उसके प्रतिपाद्य, जीवन-दर्शन और वास्तु कौशल में अनेक छिद्र हैं, किन्तु उसका महत्त्व उसकी उदात्त परिकल्पना और विराट आयाम में है। उन्होंने जिस प्रकार उसमें रस-सिद्धान्त के साथ रिचर्ड्स की मनोवैज्ञानिक पद्धति, लोंजाइनस की उदात्त विषयक मान्यता और शैव एवं बौद्ध दर्शन के साथ आधुनिक विकासवाद की पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग कर दिखाया है, वह बड़े उदार आलोचनात्मक कौशल से ही संभव हो सकता है। इस प्रसंग में डॉ. नगेन्द्र ने *कामायनी* की उन कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचनाओं का ज़िक्र करने और उन्हें ख़ारिज या स्वीकार करने की आवश्यकता भी नहीं समझी, जो इस समय तक प्रकाश में आ चुकी थीं और जिनमें *कामायनी* को दूसरी नज़र से देखने का प्रस्ताव किया गया था। *कामायनी* पर दिनकर के लेख और मुक्तिबोध की रचना *कामायनी : एक पुनर्विचार* ऐसे ही प्रयास थे।

विशिष्ट रचनाओं और रचनाकारों पर समीक्षात्मक ग्रन्थों के अलावा, डॉ. नगेन्द्र ने उन अधिकांश काव्य-सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों पर लिखा, जिनका प्रचलन मुख्य रूप से छायावाद और उसके बाद हुआ। प्रवृत्तियों में उन्होंने 'प्रयोगवाद', 'प्रगतिवाद', 'नई कविता' और 'नई समीक्षा' पर विचार किया और सिद्धान्तों में 'बिम्बवाद', 'मिथकीय समीक्षा', 'शैली विज्ञान', 'समाजशास्त्रीय आलोचना' और 'सौन्दर्यशास्त्र' पर। सन् 1950 से 1982 तक वे इन तमाम विषयों पर निबन्ध

और पुस्तकें लिखकर अपने विचार व्यक्त करते रहे, पर इन रचनाओं में दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि उनकी वृत्ति सैद्धान्तिक विवेचन में अधिक रमती है। सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए, रचनात्मक साहित्य से उदाहरण देकर अपनी बात को पुष्ट करने की शैली उनकी नहीं है। उन्होंने बिम्ब पर विचार करते हुए अवश्य छायावादी कवियों में 'प्रसाद', 'पन्त' और 'निराला' से लेकर नए कवियों में गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, कुँवर नारायण आदि की कविताओं से उद्धरण चुने हैं, पर मिथकीय आलोचना के प्रसंग में उन्हें केवल रामधारी सिंह 'दिनकर' की *उर्वशी* ही विचारणीय प्रतीत हुई। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि वे अपने आलोचना कर्म में उत्तरोत्तर सिद्धान्त-विवेचन की ओर उन्मुख होते गये और रचनात्मक साहित्य पर उनकी पकड़ शिथिल हो गयी। दूसरे, उनके रोमानी संस्कार छायावोदात्तर साहित्य के आस्वादन में बाधक हुए। बहुत से बहुत, वे उत्तरछायावादी कवियों में हरिवंश राय बच्चन, रामधारी सिंह 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, भवानीप्रसाद मिश्र, या फिर उन नए कवियों को पचा पाए, जिनके काव्य में प्रगीत तत्त्व और रोमानी भावबोध की प्रधानता थी (गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती)। अपनी रोमांटिक अभिरुचि के कारण ही प्रगतिशील और प्रयोगशील साहित्य के साथ वे पूरा तालमेल नहीं बैठा सके। उन्होंने एक हद तक अज्ञेय को तो स्वीकार कर लिया, उसमें भी उनके कथाकार और चिन्तक को अधिक, कवि को कम, पर मुक्तिबोध उनके कभी गले नहीं उतरे। उन्हें उनकी अभिव्यक्ति में तारतम्य का अभाव और विम्ब-विधान खंडित प्रतीत होता था। उन्होंने अपनी नापसन्दगी को छिपाया नहीं, पर कटुता और ध्वंसात्मक तेवर को बराबर बचाया। आलोचना में वे विवाद से ज़्यादा संवाद को अहमियत देते थे। प्रगतिशील/प्रयोगशील साहित्य के बारे में उनकी टिप्पणियाँ इसका प्रमाण हैं।

साहित्य के बारे में डॉ. नगेन्द्र की पसन्द-नापसन्द बिलकुल साफ़ थी। उन्होंने न कभी अवसर देखकर पाली बदली, न पैंतरेबाज़ी की। साहित्य की नई प्रवृत्तियों के प्रति असहिष्णुता की शिकायत उनसे प्रायः की जाती रही। इन प्रवृत्तियों से अपनी निराशा और फिर उदासीनता को उन्होंने कभी छिपाया भी नहीं। यह सवाल उनकी रुचि और काव्य-संस्कार का था, किसी की उपेक्षा या अवमानना का नहीं।

डॉ. नगेन्द्र आलोचना के लिए चुनाव उन्हीं विषयों का करते थे, जिनमें उनकी गहन रुचि होती थी। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था, "प्रायः प्रतिष्ठित या ऐसा काव्य ही, जिसके स्थायी मूल्य स्पष्ट लक्षित हों, मेरी आलोचना का विषय रहा है—किसी कृति या कृतिकार को स्थापित करने की स्पृहा मेरे मन में नहीं

आयी।'' उनकी आलोचनाओं में खंडन-मंडन या चुनौतियों की अपेक्षा व्याख्या, विश्लेषण और अनुशंसात्मक दृष्टि ही अधिक मिलती है।

अपने दृष्टिकोण में डॉ. नगेन्द्र बराबर व्यक्तिवादी रहे। सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भ और युग-बोध उनकी आलोचनाओं में अप्रासांगिक होते हैं। वे कवि की सौन्दर्यानुभूति पर दृष्टि टिकाकर, अभिव्यक्ति की सफलता-असफलता के नज़रिए से उसका विश्लेषण करते हैं। उनके व्यावहारिक आलोचक की सामर्थ्य मुख्य रूप से शिल्प-विवेचन में व्यक्त हुई है। *कामायनी, कुरुक्षेत्र* एवं *उर्वशी* की समीक्षाओं की तुलना से यह बात सहज स्पष्ट हो जाती है। अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में उन्होंने विविध विषय लिये हैं—काव्य, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र आदि। कृतिकारों से सम्बद्ध आलोचनाओं की व्याप्ति मध्ययुग से आधुनिक युग तक है। किन्तु वे मुख्य-रूप से आधुनिक काव्य के आलोचक हैं। *कामायनी* पर लिखित अपने निबन्धों को वे अपनी व्यावहारिक आलोचना का सर्वोच्च शिखर मानते थे, जो इस बात का प्रमाण है कि समय के साथ उनके भीतर के अध्यापक और आलोचक अभिन्न हो गये थे और उनकी दृष्टि में अकादमिक अनुशासन में बँधी आलोचना ही श्रेष्ठ आलोचना ठहरती थी। नए साहित्य की नई प्रवृत्तियों और नई चेतना से लगभग पूरी तरह कट जाने के कारण उनकी आलोचना में स्पष्टता और व्यवस्था भले ही बनी रही हो, पर क्रमशः स्फूर्ति और ताज़गी का क्षय हो गया था।

डॉ. नगेन्द्र की वृत्ति जितनी कविता की आलोचना में रमती थी, उतनी गद्य साहित्य के मूल्यांकन में नहीं। आलोचना के क्षेत्र में लंबे समय तक सक्रिय रहने के बावजूद उन्होंने किसी नए कथाकार या नाटककार की समीक्षा नहीं की। किसी समय उन्होंने जैनेन्द्र के *त्यागपत्र* और *मुखदा*, सियारामशरण गुप्त के *नारी* और अज्ञेय के *शेखर : एक जीवनी* की समीक्षा उनके प्रभाव की दृष्टि से की थी। इस क्रम में उन्होंने रचना की मूल प्रेरणा, रचनाकार की जीवन-दृष्टि, कला, शैली की विदग्धता, रस की क्षीणता आदि के आधार पर उसके प्रभाव का अंकन करते हुए अपना निर्णय दिया है। 1940 ई. में उन्होंने *आधुनिक हिन्दी नाटक* की रचना की थी। इस रचना में उन्होंने नाटकों में निहित चेतना और उनके रूप-बंध की दृष्टि से उनका वर्गीकरण किया। उसके बाद उन्होंने नाटकों को भी अपनी आलोचना का विषय नहीं बनाया।

डॉ. नगेन्द्र के आलोचना-कर्म के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी वृत्ति मूल रूप से सैद्धान्तिक विवेचन में अधिक रहती

थी। उनकी आरम्भिक दौर की व्यावहारिक आलोचनाओं में भी सैद्धान्तिकता के प्रति रुझान और आग्रह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस ओर उनकी प्रवृत्ति अपने शोध-प्रबन्ध 'रीति काव्य की भूमिका' और 'देव और उनकी कविता' के रचनाकाल के दौरान ही हो गयी थी। इस बात को उन्होंने बाद में स्वयं स्वीकार किया है, "रीतिकाव्य के अध्ययन के समय मैं व्यावहारिक आलोचना से सैद्धान्तिक आलोचना की ओर आकृष्ट हो चला था।" यह आकर्षण समय के साथ उन पर ऐसा हावी हुआ कि उन्होंने अपने आपको पूरी तरह आलोचना-पद्धतियों और विचार सरणियों के गम्भीर अध्ययन और विश्लेषण के प्रति समर्पित कर दिया। इनमें भी उनकी विशेष आस्था 'क्लासिक्स' में थी। नई विचारधाराओं और प्रवृत्तियों को उनकी उतनी सहानुभूति नहीं मिल सकी। यह रुझान उनकी अनुशासनप्रिय व्यवस्थाधर्मी प्रवृत्ति के अनुरूप था।

□

6

समीक्षा का वैचारिक आधार

डॉ. नगेन्द्र ने अपनी समीक्षा के वैचारिक आधार को *मेरी साहित्यिक मान्यताएँ* शीर्षक से लिखे निवन्धों में स्वयं स्पष्ट कर दिया है। अतः इस सन्दर्भ में न कोई विशेष अटकल लगाने की ज़रूरत है और न किसी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश है। डॉ. नगेन्द्र की समीक्षा-दृष्टि का केन्द्रीय विचार यह सूत्र वाक्य है :

"कविता को—व्यापक अर्थ में रस के साहित्य अथवा ललित वाङ्मय को—मैं मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही मानता हूँ।" (*आस्था के चरण*, पृ. 88) उनकी इस मान्यता को लेकर हिन्दी में जो 'ऊहापोह और विवाद हुआ', उससे वे अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए 'आत्माभिव्यक्ति' की अपनी अवधारणा को उन्होंने सविस्तार समझाया। उन्होंने तुलसीदास की रचनाओं के उदाहरण से इस शब्द की अर्थ-व्याप्ति का खुलासा कुछ ऐसे किया : " *विनयपत्रिका* और *रामचरितमानस* दोनों ही तुलसी की आत्माभिव्यक्ति के दो रूप हैं—इन दोनों में मूल प्रेरणा का भेद न होकर माध्यम-प्रतीकों और बिम्बों का ही भेद है। दोनों के माध्यम से ही तुलसी ने आत्माभिव्यक्ति की है, केवल उसके प्रकार में भेद है; एक में आत्माभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है अर्थात् लघु—सरल प्रतीकों के द्वारा हुई है और दूसरे में व्यापक एवं संश्लिष्ट प्रतीकों के द्वारा।" (वही, पृ. 89)

डॉ. नगेन्द्र की दृष्टि में मूल बात है 'रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति'। अभिव्यक्ति में भेद केवल विधि का है। "एक कलाकार अपनी रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से करता है और दूसरा प्रसंग या कथा के व्याज से।" (वही, पृ. 89)

काव्य-सृजन के सन्दर्भ में अभिव्यक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, डॉ. नगेन्द्र के मन में एलियट का प्रसिद्ध 'निर्वैयक्तिकता' सिद्धान्त था। उन्होंने 'सौन्दर्य की सर्जना में कलाकार की तटस्थ दृष्टि को प्रमाण माननेवाले 'अनेक कला-मर्मज्ञों' से अपना अ-विरोध प्रकट करते हुए सफ़ाई दी, "अभिव्यक्ति-सिद्धान्त

का इस स्थापना से कोई विरोध नहीं है, उसके अनुसार भी व्यक्तिगत राग-द्वेष का उद्‌गार कविता नहीं है। अभिव्यक्ति अर्थात् कला-सृजन की प्रक्रिया में पड़कर व्यक्तिगत भाव भी स्व-पर की सीमाओं से मुक्त होकर व्यापक चेतना—शास्त्रीय शब्दावली में, निर्विघ्न प्रतीति का विषय बन जाता है। अतः कविता भाव का वमन नहीं है, यह तो मैं भी मानता हूँ, किन्तु यह मान्यता आत्माभिव्यक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्ति वमन नहीं है।" (वही, पृ. 90)

आत्माभिव्यक्ति सिद्धान्त का विस्तार डॉ. नगेन्द्र ने काव्य के प्रयोजन की व्याख्या तक किया। आत्माभिव्यक्ति को उन्होंने 'आत्मनः कामाय' से जोड़कर उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द को काव्याभिव्यक्ति का आत्यन्तिक प्रयोजन घोषित करते हुए कहा, "सवाल यह है कि काव्य का प्रयोजन क्या है? मेरा उत्तर है—आनन्द। ...मनुष्य अपने सभी कर्म 'आत्मनः कामाय' ही करता है। इसके प्रतिपक्ष में विचारकों के दूसरे वर्ग ने 'लोक हिताय' की प्रतिष्ठा की है। किन्तु, यह केवल दृष्टि का ही भेद है, आत्मवादी जहाँ प्रकृति को अपनी चेतना के भीतर खींचकर उसका भोग करता है, वहाँ लोकवादी आत्मा का प्रकृति में विस्तार करता है। पर ये दोनों ही अपने-अपने ढंग से आनन्द-साधना ही करते हैं। वैसे भी, आनन्द से बड़ा कल्याण और क्या हो सकता है? और, जो कल्याणकर नहीं है, वह आनन्द ही कैसे होगा? व्यष्टि के धरातल पर चेतना का परिष्कार भी एक प्रक्रिया ही है, परिणति नहीं है। परिणति उसकी भी आनन्द ही है। अतः आनन्द का निषेध मैं जीवन और काव्य दोनों में ही असम्भव मानता हूँ।" (वही, पृ. 91)

उपर्युक्त उद्धरण में 'आत्म' और 'लोक' के बीच जो समन्वयात्मक सम्बन्ध बैठाया गया है, वह डॉ. नगेन्द्र की सार्वभौमिकता और शाश्वतता की आग्रही आत्मवादी दृष्टि का परिणाम है। वे मूलतः व्यक्तिवादी रोमानी मानसिकता के समर्थक हैं। किन्तु अपनी इस दृष्टि को समष्टि-चेतना या लोकवादी दृष्टिकोण के विरोधी रूप में देखना भी उन्हें गवारा नहीं होता। अतः वे 'आत्मनः कामाय' के भीतर 'लोक हिताय' को आनन्द-साधना के सूत्र के सहारे आत्मसात करने का प्रयत्न करते दिखाई पड़ते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि "यह केवल दृष्टि का भेद है।" या "यह केवल बलाबल का भेद है", उनके ऐसे प्रिय पद हैं, जिनके सहारे वे तमाम विरोधों का शमन कर समन्वय की राहें खोज लेते हैं।

उनके समग्र काव्य-चिन्तन में इसी सूत्र का विस्तार होता चलता है। काव्य-प्रयोजन के बाद काव्यास्वाद की चर्चा करते हुए उन्हें "काव्य का आस्वाद

मूलतः भाव का ही आस्वाद'' प्रतीत होता है। कल्पना और बुद्धि की भूमिका उनके अनुसार भाव के सहायक की ही हो सकती है। पर यह आस्वाद 'इंद्रियगम्य प्रकृत भाव' का नहीं 'कल्पनागम्य शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक' भाव का होता है। आस्वाद के इस रूप को वे लगे हाथों, काव्यशास्त्रीय 'रस' की अवधारणा से जोड़ देते हैं, ''आस्वाद के इसी रूप को शास्त्र में रस कहा गया है। इस प्रकार काव्य के सन्दर्भ में आनन्द का विशिष्ट अर्थ है रस, और यही काव्य का प्रयोजन है।'' (वही, पृ. 91)

डॉ. नगेन्द्र ने आगे चलकर काव्य की इसी आस्वाद्यता को 'काव्य-मूल्य' का दर्जा दिया है, ''जिस काव्य में रागात्मक आस्वाद प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्य होगा।'' (वही, पृ. 9) काव्यास्वाद से काव्य-मूल्य तक के विवेचन को यदि सूत्रबद्ध करना चाहें, तो डॉ. नगेन्द्र के अनुसार वह सूत्र कुछ ऐसा होगा : रागात्मक प्रभाव > आस्वाद > आनन्द > रस > काव्य मूल्य।

इस सूत्र के अनुसार काव्य का मूल्य 'आस्वाद प्रदान करने की क्षमता' अर्थात् गुणात्मक मात्रा पर निर्भर हो गया। इस समस्या पर विचार करते हुए भी डॉ. नगेन्द्र ने समन्वय का रास्ता निकाला है। वे मानते थे कि ''रसानुभूति की कोटियों की कल्पना शास्त्र को सर्वथा अग्राह्य है; किन्तु व्यवहार में तो हम रस के मात्रा-भेद की बात करते ही हैं।'' अतः शास्त्र और व्यवहार के बीच उनके अनुसार समन्वय कुछ इस रूप में घटित होता है, ''सिद्धि की अवस्था में रस का स्वरूप अखंड है, किन्तु संकलित प्रभाव की अवस्था में, रागात्मक स्थितियों के संख्या-भेद से, मात्रा का भेद हो जाता है।'' (वही, पृ. 91) अपने इस कथन की व्याख्या उन्होंने जिस रूप में की है, उससे दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि शास्त्र-विरोधी मत का प्रतिपादन करने में उनके भीतर प्रायः संकोच और झिझक बनी रहती है। वे शास्त्र को काटकर निकलनेवाला रास्ता न पकड़कर, बराबर से अपने लिए ऐसी पगडंडी बनाकर निकल जाना चाहते हैं, जिससे टकराहट को बचाया जा सके। दूसरे, काव्य-मूल्य के प्रश्न पर विचार करते हुए उन पर आई. ए. रिचर्ड्स का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है, ''जो छन्द अधिक सरस है, उसके द्वारा अपेक्षाकृत अधिक चित्रवृत्तियों की समाहिति सम्पन्न होती है और अधिक चित्रवृत्तियों की समाहिति के कारण रस-दशा अधिक समय तक रहती है। ... मात्रा का भेद आस्वाद में नहीं है–आस्वाद दशा के स्थायित्व में है। रसास्वाद की आवृत्ति से उसमें स्थायित्व के साथ घनत्व का भी अनुभव होने लगता है। रस में मात्रा-भेद की प्रतीति की यही व्याख्या है। यह भेद स्वरूपगत नहीं है,

गुणात्मक नहीं है—कालिक और नैतिक है।" (वही, पृ. 91-92) कहना न होगा कि स्थायी और सघन, मात्रा-भेद से अन्ततः स्वरूप भेद और गुणात्मक भेद के ही कारक होंगे। यह स्थिति शास्त्रसम्मत नहीं कही जा सकती, पर इसे शास्त्र-विरोध के रूप में नहीं शास्त्र-मत के विकास के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। डॉ. नगेन्द्र ने साहित्य-मूल्य के रूप में रचना की आस्वाद्यता को प्रस्तावित कर उसका सम्बन्ध रस-सिद्धान्त से जोड़ा और उसे साहित्य का आत्यन्तिक मूल्य स्वीकार किया है।

इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि कला एवं शिल्पगत मूल्य साहित्य के आनुषंगिक किन्तु प्रासंगिक मूल्य होते हैं। इसी प्रसंग में डॉ. नगेन्द्र ने इस प्रश्न का भी उत्तर दिया है कि "क्या रस-सिद्धान्त की शब्दावली में आधुनिक कविता का सम्यक् विवेचन एवं मूल्यांकन किया जा सकता है?" इस प्रश्न का उत्तर वे बार-बार 'रस' की शास्त्रीय अवधारणा को रागात्मक प्रभाव से अभिन्न मानकर देते हैं। उन्होंने आचार्य शुक्ल का हवाला देते हुए कहा कि "रस-सिद्धान्त एक विकासशील सिद्धान्त है—सिद्धान्त के विकास के साथ उनकी-विवेचन-पद्धति और शब्दावली में भी परिवर्तन-संशोधन होता रहा है। आचार्य शुक्ल इस युग के सर्वाधिक समर्थ रसवादी आलोचक थे। उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी के प्राचीन (आधुनिक नहीं) काव्यों का विवेचन एवं मूल्यांकन मूलतः रस-सिद्धान्त के आलोक में ही किया है, किन्तु उनकी तीनों महनीय कृतियों में आलंबन-उद्दीपन अथवा अनुभाव-विभाव का परिगणन करनेवाली रूढ़ पद्धति का प्रयोग नहीं हुआ।" (वही, पृ. 92) इसके बाद डॉ. नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल की आलोचना में प्रयुक्त पदावली का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया कि आचार्य शुक्ल ने 'रसांगों' की वाचक पारिभाषिक शब्दावली का कैसे "नवीन आलोचनाशास्त्र और मनोविज्ञान के प्रकाश में अर्थ विस्तार किया।" इतना ही नहीं, उन्होंने साग्रह घोषणा की कि "रस के स्वरूप-विकास के साथ-साथ रसात्मक बोध की व्याख्या नहीं बदली—यह धारणा और तर्क दुराग्रह के ही द्योतक हैं।" (वही, पृ. 93) दरअस्ल जैसा डॉ. नगेन्द्र ने स्वयं स्पष्ट किया है, उनके लिए यह सवाल केवल काव्य-दर्शन का नहीं, जीवन-दर्शन का है। वे उस मत के समर्थक हैं, जिसके अनुसार, "जीवन के मूल्य चिरन्तन हैं : देश-काल के अनुरूप उनमें संशोधन और विकास होता रहता है, परन्तु मूल तत्त्व अक्षुण्ण रहते हैं।" (वही, पृ. 93) किसी प्रतिमान की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता की ऐसी स्वीकृति के बाद उसके महत्त्व और व्यवहार्यता के बारे में सारी शंकाएँ और सवाल व्यर्थ हो जाते हैं।

डॉ. नगेन्द्र का यह शाश्वतवाद इतना व्यापक और सर्वग्राही है कि उन्हें कविता या रस के साहित्य में नए-पुराने का भेद करने के बजाय अच्छी-बुरी या कविता-अकविता के बीच भेद करना ज़्यादा उपयुक्त जान पड़ता है। उनके लिए बिहारी और पन्त तथा घनानन्द और गिरिजाकुमार माथुर की कविता के बीच भेद "कवित्व-गुण का निर्णय नहीं करता—वह स्वरूप-वर्णन में सहायक होता है, मूल्यांकन में नहीं।" (वही, पृ. 96) इस मान्यता के आधार पर डॉ. नगेन्द्र ने 'अज्ञेय' और 'रत्नाकर' के बीच तुलना करके जो निष्कर्ष निकाला, वह दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा, "अज्ञेय को नई रूप-विवृत्तियों का अधिक और सटीक ज्ञान है—केवल इसी एक तथ्य के आधार पर वे रत्नाकर से अधिक समर्थ कवि नहीं बन जाते। प्रश्न है रूप की सूक्ष्म-गहन अनुभूति और अधिकाधिक पूर्ण अभिव्यक्ति का।" डॉ. नगेन्द्र के अनुसार किसी कवि का समय के साथ होना उसके महत्त्व का निर्णायक नहीं होता।

उनकी इस मान्यता का सम्बन्ध इस बात से है कि वे आधुनिकता की अपेक्षा युग-बोध को अधिक महत्त्व देते हैं, लेकिन दोनों को ही जीवन-मूल्य नहीं मानते। उनके लिए सत्य युगापेक्षी नहीं है और चूँकि "काल एक परिप्रेक्ष्य मात्र है सत्य के दर्शन का" और सत्य कालमुक्त होता है, इसलिए काल सत्य की सीमा नहीं हो सकता।

डॉ. नगेन्द्र ने 'काव्यास्वाद' और 'काव्याभिव्यक्ति' के सापेक्षित महत्त्व पर भी विचार किया। ऐसा करना उनके लिए स्वाभाविक भी था, क्योंकि 'रस' मूलतः आस्वाद रूप है और वे उसे ही काव्य का आत्यन्तिक मूल्य स्वीकार करते हैं। उन्होंने अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा कि "अनुभूति और अभिव्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध है—परन्तु विवेचन की सुविधा के लिए उनको पृथक् मानना आवश्यक हो जाता है।" और यह भी कि "अनुभूति की रमणीयता का अनिवार्य माध्यम रमणीय शब्दावली ही हो सकती है—अर्थात् अभिव्यंजना-कला काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं है।" (वही, पृ. 97) अभिव्यंजना कला को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानकर भी वे उसे भाव-निर्भर ही मानते हैं, "क्योंकि वाणी का असली चमत्कार तो भाव-प्रेरित ही हो सकता है।" जहाँ यह चमत्कार भाव-प्रेरित न हो, ऐसे प्रयोगों की गणना वे 'हाथ की सफ़ाई' के भीतर करते हैं।

काव्याभिव्यंजना के उनकी दृष्टि में दो मूल तत्त्व हैं—बिम्ब और छन्द। इन तत्त्वों की सार्थकता 'अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त बनाने में है।' जो 'मन या हृदय

का विषय है, उसे इंद्रियों का विषय बनाना ही अमूर्त्त की मूर्त्त करना है।' वे कविता की उसी पुरानी परिभाषा के क़ायल हैं जिसके अनुसार वह 'शब्दार्थ के माध्यम से भाव की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति है।' डॉ. नगेन्द्र के विचार-तन्त्र में अभिव्यक्ति के इन उपकरणों की भाव-संवलित व्याख्या से इनकी स्वतन्त्र/निरपेक्ष सत्ता महत्त्वहीन हो जाती है। वस्तुतः अनुभूति और अभिव्यक्ति, शब्द और अर्थ, व्यक्ति और समाज, आन्तरिक और बाह्य, अमूर्त और मूर्त जैसे शब्द-युग्मों से जिन अवधारणाओं की व्यंजना होती है, उनके बीच डॉ. नगेन्द्र लगातार परस्पर विरोधी सम्बन्ध न देखकर अभिन्न या समन्वयात्मक सम्बन्ध देखने या बैठाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु जब उनके बीच सापेक्षिक महत्त्व को रेखांकित करने का सवाल उठता है तो वे अनुभूति, व्यक्ति, अमूर्त, आन्तरिक, अर्थ के ही पक्षधर होते हैं। बाह्य तत्त्वों का वे या तो आन्तरिक में अन्तर्भाव कर लेते हैं या उनमें अभिन्नता का प्रतिपादन कुछ ऐसी पद्धति से करते हैं कि वरीयता इन्हीं की बनी रहती है।

'मूलभूत एकता' उनके चिन्तन का ऐसा स्थायी भाव या 'टेक' है, जिससे सहमत होने में कभी-कभी कठिनाई होने लगती है। साहित्य में विभिन्न रूप-विधाओं के आस्वाद का प्रश्न ऐसा ही एक प्रसंग है। विधाओं के भेद के बारे में उनकी मूल मान्यता है कि "विधाओं के इस भेद को मैं न मौलिक मानता हूँ और न तात्त्विक, अर्थात् मैं यह नहीं मानता कि रूप के भेद से काव्य के आस्वाद में कोई मौलिक अन्तर पड़ जाता है। ...माध्यम के सूक्ष्म भेद से प्रक्रिया में भेद हो जाता है—किन्तु परिणति की स्थिति में भेद मैं नहीं मानता। प्रबन्ध और प्रगीत का भेद या प्रबन्ध-काव्य और उपन्यास का या प्रगीत और कहानी की आस्वादन-प्रक्रिया का भेद तो स्वतः स्पष्ट है, किन्तु परिणति सबकी चित्त की समाहिति में अथवा चेतना की विश्रांति में ही होती है या होनी चाहिए।" (वही, पृ. 99) उनकी इस स्थापना के अनुसार *रामचरितमानस* और *बिहारी सतसई* तथा *कामायनी*, 'अंधेरे में' और 'मोचीराम' से होनेवाले आस्वाद की अन्तिम परिणति "सबकी चित्त की समाहिति में अथवा चेतना की विश्रांति में ही होती है या होनी चाहिए।" (वही, पृ. 99) अगर यह मान लिया जाए कि रूप-विधाओं के अन्तर से आस्वाद में अन्ततः अन्तर नहीं पड़ता, तो पढ़ने के लिए कृतियों के बीच चुनाव करना व्यर्थ श्रम से अधिक नहीं ठहरता।

इसी बात को बढ़ाते हुए यह कहा जा सकता है कि यह अन्तर केवल रूप-विधा का नहीं अन्तर्वस्तु का अन्तर होता है। *रामचरितमानस* के कथ्य के

लिए प्रबन्ध-रूप ही नहीं कथा-विन्यास के लिए जो विशेष कौशल और मानसिकता अपेक्षित थी, ज़ाहिर है, वह *बिहारी सतसई* के लिए तो नहीं ही थी। दोनों दो तरह के समाज और पाठकीय रुचि की देन हैं। दोनों का बोधव्य पाठक समुदाय अलग है, इसलिए उनकी शैली और रूप-विधाओं में अन्तर है। यदि उनसे होनेवाले आस्वाद में घनता और स्थायित्व का भेद है तो अन्ततः यह मूल्य का भेद होगा।

डॉ. नगेन्द्र के पास इसका भी समाधान है। उनका मानना है कि हर रसात्मक कृति के काव्यगुण का आधार उसके मार्मिक प्रसंग, यानी प्रायः प्रतीगात्मक प्रसंग ही ठहरते थे। प्रबन्ध और नाटक भी इसका अपवाद नहीं है, सभी अन्ततः 'चित्त की समाहिति' अथवा 'चेतना की विश्रांति' के कारक होते हैं। डॉ. नगेन्द्र की यह मान्यता उनके व्यक्तिनिष्ठ, स्वच्छन्दतावादी रुझान की स्वाभाविक परिणति है। ज़ाहिर है इसके साथ सबकी सहमति कठिन है।

सहमति-असहमति का प्रश्न अपनी जगह है, परन्तु डॉ. नगेन्द्र की समीक्षा के वैचारिक आधार को समझने के लिए यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि उनका मुख्य सरोकार था—रस-सिद्धान्त को मानव की शाश्वत रागात्मिका वृत्ति से सम्बद्ध करके एक व्यापक, सार्वभौमिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तावित करना। इसके लिए वे बार-बार रस-सिद्धान्त पर लगाए गये आक्षेपों का उत्तर देते हैं। इस प्रक्रिया में वे शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक, हर तरह के तथ्यों और तर्कों का सहारा लेते हैं। वे हर काल के सर्जनात्मक साहित्य और उसकी प्रत्येक विधा का मूल्यांकन करने में समर्थ सिद्धान्त के रूप में उसका पुनराख्यान करते हैं। उनका यह प्रयास एक हज़ार वर्ष पूर्व आचार्य अभिनवगुप्त की परम्परा का स्मरण करा देता है, क्योंकि रस के व्याख्याता आचार्यों में वे सबसे अधिक उन्हीं के ऋणी हैं।

□

7

'भारतीय साहित्य' की संकल्पना

'भारतीय साहित्य' पद के बारे में पहला प्रश्न है कि इस पद से किसी ऐसे 'एकक' का बोध होता है, जो भारत की अनेक भाषाओं में रचित साहित्य में अन्तर्निहित मूलभूत एकता का वाचक है या फिर यह उस साहित्य-समुदाय का बोध कराता है, जिसे भाषिक और प्रवृत्तिगत वैविध्य के बावजूद, एक ही राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं में रचे जाने के कारण 'भारतीय साहित्य' कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. नगेन्द्र विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्यों की मूलभूत एकता के समर्थक हैं। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन भी बहुत-सी भाषाओं में लिखे जानेवाले साहित्य को 'भारतीय साहित्य' नाम का एकक मानते थे। इसके विपरीत डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भाषाओं और साहित्यों की विभिन्नता में विश्वास करते थे और 'भारतीय साहित्य' का प्रयोग बहुवचन में करते थे। डॉ. नगेन्द्र ने विभिन्न भाषाओं में रचे जानेवाले साहित्य की निजी विशिष्टता से इनकार नहीं किया, पर उनका कहना था कि इस विभिन्नता में अन्तर्निहित मूलभूत एकता का संधान सहज ही किया जा सकता है।

डॉ. नगेन्द्र ने इस विषय का विस्तार से विवेचन अपने इसी शीर्षक के निबन्ध 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' और *भारतीय साहित्य* की भूमिका में किया है। डॉ. नगेन्द्र के विवेचन की एक विशेष पद्धति होती थी। वे पहले अपना मूल मन्तव्य स्थिर करते थे। फिर उसके पक्ष में और तथ्यों और तर्कों का उपयोग करते हुए उसका प्रतिपादन करते थे। ऐसा करते हुए वे यथास्थान विरोधी मत का खंडन करते हुए अन्त में निर्णयात्मक शैली में प्रतिपादित मत की शक्ति और सीमा का उल्लेख करते थे।

'भारतीय साहित्य' की मूलभूत एकता का प्रतिपादन भी उन्होंने इसी शैली में किया है। उन्होंने 'एकता' के पक्ष में कुछ तथ्यों का हवाला दिया। इस क्रम मे उन्होंने उल्लेख किया कि तमिळ और उर्दू को छोड़कर सभी भारतीय भाषाओं

का जन्मकाल प्रायः समान ही है। जन्म ही नहीं उनके साहित्यों के विकास के चरण भी लगभग समान ही हैं और इनके विकासक्रम के समान होने के कारण भी स्पष्ट हैं। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार यह कारण है भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। डॉ. नगेन्द्र ने यह कहकर कि "बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है।"—विस्तार से मुग़लों और राजपूतों के राज्यकाल का हवाला दिया। उनकी दृष्टि में इस राज-व्यवस्था की विशिष्टता यह थी कि यद्यपि "राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट तो नहीं हुआ, किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासन भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंग्रेज़ों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था क़ायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया।" (*आस्था के चरण*, पृ. 258-59)।

डॉ. नगेन्द्र ने शासन में राजनीतिक प्रणालियों की जैसी एकता दिखाई है, वह सतही रूप में एक समझी जा सकती है, पर साहित्य में प्रतिफलित रचनाकार की मानसिकता और अन्तश्चेतना पर सामाजिक संस्थाओं, आर्थिक संरचनाओं, जाति और वर्ग सम्बन्धों और इन सबकी पारस्परिक अन्तर्क्रियाओं का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार सभी 'मुसलमान' या 'राजपूत' शासकों को जाति या धर्म एक होने के आधार पर एक जैसा नहीं समझा जा सकता। वर्ना, सभी के शासन-काल में कलाओं और साहित्य का लगभग एक जैसा विकास होना चाहिए था। साहित्य और कलाओं के इतिहास से यह बात सिद्ध नहीं होती। 'अकबर' और 'औरंगज़ेब' के शासन-काल तथा विभिन्न राजपूत राजाओं के शासन के दौरान रचित साहित्यों की तुलना से यह अन्तर स्पष्ट सामने आ जाएगा। अंग्रेज़ों के दो सौ वर्ष से ऊपर के शासन-काल के विभिन्न चरणों में साहित्य में आनेवाले परिवर्तन भी इसी अन्तर की ओर संकेत करते हैं।

डॉ. नगेन्द्र ने स्वयं भारतीय भाषाओं में साहित्य रचना के इतिहास का जो ब्यौरा दिया है, उसके अनुसार भी अलग-अलग भाषाओं में साहित्य-रचना का आरम्भ एक साथ नहीं हुआ। कहीं-कहीं यह अन्तराल शताब्दियों का है। कन्नड का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ नवीं शताब्दी का है और तेलुगु के प्राचीनतम ज्ञात कवि का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। मलयाळम् की सर्वप्रथम कृति *रामचरितम्* की रचना अनुमानतः तेरहवीं शताब्दी में हुई और गुजराती-मराठी की आरम्भिक कृतियाँ

बारहवीं शताब्दी में प्रकाश में आयीं। उधर हिन्दी और पंजाबी में ग्यारहवीं शताब्दी से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगा था, पर साहित्यिक उर्दू का स्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले स्थिर नहीं हो सका। कहने का तात्पर्य यह कि यदि अधिकांश भाषाओं में साहित्य रचना अलग-अलग समय पर हुई तो इसके सामाजिक-सांस्कृतिक कारण रहे होंगे। यह बात अलग है कि अधिकांश भाषाओं में मध्ययुग और आधुनिक युग का आरम्भ और अन्त समय के थोड़े बहुत अन्तर से हुआ और पूर्व मध्ययुग की व्याप्ति लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक रही। पर यह भी तो सही है कि एक ही समय में दो भाषाओं में रचित साहित्य का मूल स्वर हमेशा एक जैसा नहीं रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी और उर्दू साहित्य में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। ध्यान से देखा जाए तो विभिन्न भाषाओं के साहित्य की मूलभूत एकता का सवाल जितना ऊपर से दिखाई पड़ता है, उससे कहीं अधिक जटिल है।

राजनीतिक परिस्थितियों में साम्य की अपेक्षा डॉ. नगेन्द्र ने सांस्कृतिक परिस्थितियों के साम्य को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। इस सन्दर्भ में उन्होंने पिछले सहस्राब्द में होनेवाले उन धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों की चर्चा की है, जिनका प्रभाव उनके अनुसार 'भारतव्यापी' था। इन आन्दोलनों में वे नाथों-सिद्धों, के अलावा सन्तों और सूफ़ियों की साधना पद्धतियों के देशव्यापी प्रभाव को सिद्ध करते हैं। वैष्णव आन्दोलन के देशव्यापी स्वरूप को तो लगभग निरपवाद रूप से स्वीकार किया ही गया है। डॉ. नगेन्द्र ने उसके बाद के साहित्य का रिश्ता भी 'मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता' के बदले प्रभाव और 'ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक' तत्त्वों के भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुलने-मिलने के साथ जोड़कर निष्कर्ष निकाला कि इसके परिणामस्वरूप "एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था।" इसी क्रम में आगे बढ़कर उन्होंने 'पश्चिम के व्यापारियों के आगमन', उनके साथ आनेवाले 'पाश्चात्य शिक्षा-संस्कारों' और उनके 'पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दलों' के भारत में प्रवेश करने का ज़िक्र किया। उन्नीसवीं शती में "अंग्रेज़ों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्पर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।" (*आस्था के चरण,* पृ. 259-60) आधुनिकता की चेतना के पीछे इन कारणों का ज़िक्र इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों ने बराबर किया है। परन्तु विचारणीय बात इन स्थितियों के आधार पर साहित्य

के बारे में निकाला गया, उनका यह निष्कर्ष है कि "भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है।"

दरअस्ल अंग्रेज़ी शासन और सभ्यता के साथ सभी भारतीय प्रदेशों और उनकी भाषाओं का सम्पर्क और संघर्ष एक साथ घटित नहीं हुआ। व्यापारी विदेशियों के समुदाय समुद्र तट के निकटवर्ती बन्दरगाहों पर आकर उतरे थे। यह केवल संयोग नहीं है कि नवजागरण की चेतना का प्रसार करनेवाले आन्दोलनों का आरम्भ और संस्थाओं की स्थापना भी मुख्यतः इन्हीं इलाक़ों में हुई। भारत के मध्य देश तक, जिसे आज 'गोबर पट्टी' कहा जाता है, यह प्रभाव विलम्ब से पहुँचा। यही वह इलाक़ा है, जिसकी साहित्यिक भाषाएँ मध्ययुग में ब्रज और अवधी थीं और बाद में खड़ी बोली हिन्दी हुई। अतः यदि हिन्दी प्रदेश लम्बे समय तक पिछड़ा रहा और आधुनिकता का प्रभाव वहाँ अपेक्षाकृत विलम्ब से पहुँचा तो इससे उसकी साहित्यिक गतिविधियाँ कुछ अलग ढंग से परिचालित हुईं, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी साहित्य पर अक्सर चलताऊ ढंग से बाङ्ला साहित्य के प्रभाव की चर्चा की जाती है। यह एक तथ्य है कि साहित्य में बहुत से नए प्रयोग और प्रवृत्तियों का आरम्भ पहले बाङ्ला में हुआ। पर प्रभाव के बावजूद हिन्दी में किए जानेवाले प्रयोगों और साहित्यिक प्रवृत्तियों में इस प्रदेश का अपना स्थानीय रंग है और वही उसका वैशिष्ट्य भी है। मूलभूत एकता की तलाश में सूरदास और चंडीदास, प्रेमचन्द और शरत, रवीन्द्रनाथ और हिन्दी के छायावादी कवियों को एक ही खूँटे से नहीं बाँधा जा सकता। एकता के साथ इनकी निजता या अनेकता को रेखांकित करना उतना ही ज़रूरी है।

डॉ. नगेन्द्र का कहना बिलकुल सही है कि नवजागरण, स्वाधीनता आन्दोलन, साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव, जैसी तमाम सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं का असर सम्पूर्ण भारत पर पड़ा। अतः साहित्य में भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, एलियट आदि के प्रभाव से किए जानेवाले नए प्रयोग-जैसी सामान्य-प्रवृत्तियाँ कमोबेश समूचे भारतीय वाङ्मय के विकास-क्रम में दिखाई पड़ती हैं। पर साथ ही हर भाषा के साहित्य की अपनी निजता, अपना स्वरूप-वैशिष्ट्य है, जो उसकी अलग पहचान क़ायम करता है। यही वह अनेकता है, जिसे एकता के बावजूद रेखांकित करना बहुत ज़रूरी है।

डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय साहित्य की इस मूलभूत एकता के पक्ष में एक और तथ्य प्रस्तुत किया है। इसे वे 'साहित्यिक पृष्ठाधार' कहते हैं। उनका कहना है,

"भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। *रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत* संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अन्तर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ—*नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर* आदि की विचार-विभूति का उपयोग भी सभी ने निरन्तर किया है।" (*आस्था के चरण*, पृ. 260) भारतीय भाषाओं की साहित्यिक और वैचारिक विरासत के बारे में उपर्युक्त तथ्य की सचाई से कोई इनकार नहीं कर सकता। पर प्रश्न इस विरासत के उपयोग और बढ़ाव का है। राम-कथा और *महाभारत* के विविध उपाख्यानों से भारत की सभी भाषाओं ने रचनात्मक साहित्य के लिए विषयवस्तु ग्रहण की है। पर सबने इसका उपयोग एक तरह से नहीं किया। *पउमचरिउ, कृत्तिवास रामायण* और *रामचरितमानस* में एक नहीं तीन राम-कथाएँ मिलती हैं। असमिया रामायण की सीता का व्यक्तित्व तुलसी की सीता की तरह समर्पित नहीं, विद्रोहिणी नारी का व्यक्तित्व है। यही इन भाषाओं की रचनात्मक विशिष्टता है, अपनी मानसिकता और स्थानीय संस्कृति का प्रभाव है।

यही बात शास्त्रीय रिक्थ के बारे में लागू होती है। इसलिए डॉ. नगेन्द्र का यह कहना सही है कि "आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं।" पर उनके अगले कथन पर गम्भीर विचार और उसका पुनः परीक्षण किया जाना चाहिए। उनका निष्कर्ष है कि ये "प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहते हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गयी है।" (*आस्था के चरण*, पृ. 260) उनकी इस बात से पूर्णतः सहमत होना कठिन है कि "इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।' (वही, पृ. 260) यह सामान्य जैविक तथ्य है कि एक ही माता-पिता की सन्तानों के बीच भी कभी-कभी अन्य कारणों से मानसिक बनावट और शारीरिक संरचना में बहुत अन्तर होता है। साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

डॉ. नगेन्द्र ने 'मूलभूत एकता' के विचार को 'विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता से आगे बढ़ाकर भारतीय भाषाओं के साहित्य की काव्य-शैलियों और

काव्य-रूपों पर भी लागू किया। उन्होंने सामान्य रूप से इतना ही कहा कि "यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवार–आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएँ हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेज़ी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं।" (वही, पृ. 261) शब्द भंडार की चर्चा करते हुए भी उन्होंने ऐसा ही सामान्य निष्कर्ष निकाला कि अनेक रूपों में भारतीय भाषाएँ एक ओर "निरन्तर संस्कृत के शब्द भंडार का उपयोग करती रही हैं और आज भी कर रही हैं।" और दूसरी ओर उन पर अंग्रेज़ी का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। उन्होंने भारत की सभी भाषाओं पर 'पिछले पचास वर्षों' अर्थात् बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से (नगेन्द्र जी ने यह लेख 1957 में लिखा था) अंग्रेज़ी भाषा की 'नवीन प्रयोग भंगिमाओं, मुहावरों आदि के सचेष्ट रूप में ग्रहण' को सामान्य प्रवृत्ति कहा। उनके अनुसार विशेष कर गद्य पर अंग्रेज़ी का प्रभाव और भी पड़ा। उन्होंने यह कहते हुए कि "हमारी वाक्य-रचना प्रायः अंग्रेज़ी पर ही आश्रित है।" निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, "इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक गहरी आन्तरिक समानता मिलती है, जो समान विषय-वस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।" (*आस्था के चरण*, पृ. 261)

कहा नहीं जा सकता कि उनके इस मत से भाषाविद् कहाँ तक सहमत होंगे। भारत की सभी भाषाओं में संस्कृत के मूल शब्द-भण्डार का और बाद में अंग्रेज़ी और अन्य यूरोपीय भाषाओं के शब्दों का आयात हुआ, इसमें सन्देह नहीं। पर सभी भाषाओं में इस दृष्टि से एकरूपता नहीं मिलती। उत्तर भारत की भाषाओं में हिन्दी, पंजाबी, और उधर दक्खिनी में अरबी-फ़ारसी के शब्दों को जिस मात्रा में ग्रहण किया गया, वैसा दक्षिण और पूर्व की भाषाओं में नहीं हुआ। इसी प्रकार दक्षिण की भाषाओं में उत्तरी भारत की तुलना में संस्कृतनिष्ठता कुछ अधिक ही दिखाई पड़ती है। आर्य और द्रविड़ परिवार की वाक्य-रचना भी एक जैसी नहीं है। दूसरी भाषाओं के शब्द-भंडार और संरचना के प्रभाव को इन भाषाओं में अलग-अलग ढंग से ग्रहण किया गया है। इनका वैभव इसी विभिन्नता में प्रतिभासित होता है।

डॉ. नगेन्द्र के इस कथन को कि "भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है।" संशोधित कर कुछ ऐसे कहा जाए कि "भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में, विविध रूपों में अभिव्यक्त एक ही विचार है।" तो इसके साथ सहमति सम्भव हो सकती है। डॉ. नगेन्द्र ने इस लेख के आरम्भ

में भारतीय भाषाओं के साहित्य के बीच वैविध्य पर बल दिया था। उनका कहना था कि "इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र और प्रखर वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है।" पंजाबी-सिंधी, उर्दू-हिन्दी, गुजराती-मराठी की प्रादेशिक सीमाएँ एक-दूसरे से मिली होने पर भी उनके अपने 'वैशिष्ट्य की प्रखरता' को उन्होंने साग्रह रेखांकित किया था। उनका बल इस बात पर था कि ये सभी भाषाएँ एक-दूसरे के प्रभाव को यथास्थान, यथावश्यक पचाकर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए हैं। इस क्रम में वे जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, उनका बल अनेकता को अनदेखा या कमदेखा कर एकता पर बढ़ता गया और अन्ततः उन्होंने इसका प्रतिपादन एक सामान्य विशेषता के रूप में किया।

डॉ. नगेन्द्र ने भारत की विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्य की विविध काव्य-प्रवृत्तियों और शैलियों का जितने विस्तार से उल्लेख किया है और उनके बीच सम्भावित समानताओं की जिस रूप में चर्चा की है, उससे यह तो स्पष्ट है कि उन्हें इन साहित्यों में विद्यमान विविधता की अच्छी जानकारी थी। फिर भी उनका बल इसी बात पर है कि "कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है" और "अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज-सम्भव है।" उनके इस आग्रह को 'स्वाधीनता आन्दोलन' के मूल में सक्रिय भारत की एकता और अखंडता की चेतना से जोड़कर ही समझा जा सकता है। भारत-विभाजन की राजनीतिक घटना के बाद इस दृष्टि से मोहभंग भी हुआ और 'एक राष्ट्र' के सिद्धान्त में दरार भी पड़ गयी, पर साहित्यकर्मियों ने इस विश्वास का पूरी तरह परित्याग नहीं किया था। डॉ. नगेन्द्र की चिन्ता इसी परिस्थिति से उत्पन्न हुई थी, जो बाद में भी वरावर बनी रही।

इस लेख के अन्त में उन्होंने भारतीय साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों और शैलियों की तुलना करते हुए विविध भाषाओं में वर्त्तमान समानान्तर रचना-शैलियों की जिस रूप में चर्चा की है, उससे भारत की विभिन्न भाषाओं के बीच सम्भावित आदान-प्रदान और पारस्परिक प्रभाव के अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं।-पर उनका बल वहाँ भी इसी बात पर है कि "भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है।" उनका यह सुझाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि "किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए।" क्योंकि ऐसा कोई अध्ययन अपूर्ण या एकांगी होगा और उस प्रवृत्ति को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य या अखिल

भारतीय सन्दर्भ में समझने में सहायक नहीं होगा। पर किसी भी प्रवृत्ति को उसकी पूर्णता और समग्रता में समझने के लिए जितनी आवश्यकता विभिन्न भाषाओं में वर्त्तमान समानताओं को समझने की भी है, क्योंकि एकता और समानता की समझ अनेकता और विविधता की समझ के बिना हो ही नहीं सकती। इस सन्दर्भ में प्रो. यू. आर. अनन्तमूर्ति के इस कथन पर ध्यान देना उचित होगा कि भारतीय सन्दर्भ में "विविधता में एकतावाले बहुप्रचलित नारे को यदि हम स्वीकार करें तो यह बात हरेक को समझ आएगी कि विविधता को अधिक गुरुत्व देने पर ही एकता स्पष्ट प्रकट होती है और यदि भारत में कोई मात्र एकता को देखने का आग्रह करे तो उसे विविधता के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता है।"

वस्तुतः भारतीय साहित्य की स्थिति ऐसे एकता-विविधतापूर्ण साहित्यों के समूह की है, जिसकी अलग-अलग इकाइयाँ परस्पर विरोधी सम्बन्ध से नहीं, वैषम्ययुक्त संपूरक सम्बन्ध से एक-दूसरे से जुड़ी हैं।

डॉ. नगेन्द्र का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने 'भारतीय साहित्य' की संकल्पना को प्रस्तावित ही नहीं किया, उसके लिए व्यापक और संगठित प्रयत्न की आवश्यकता पर भी बल दिया। एकता पर उनके अतिरिक्त आग्रह को अगर स्वाधीनता आन्दोलन की मूल चेतना और उसके आग्रहों के सन्दर्भ में देखा जाए तो उसका औचित्य काफ़ी हद तक समझ में आता है।

□

8

काव्य-सृष्टि

डॉ. नगेन्द्र की छवि और प्रसिद्धि हिन्दी जगत में मुख्यतः आलोचक के रूप में है। उन्होंने अपने आलोचक कर्म का आरम्भ व्यावहारिक आलोचना से किया, परन्तु क्रमशः वे सिद्धान्त-विवेचन की ओर मुड़ गये। प्रौढ़ि काल तक पहुँचते-पहुँचते उनकी प्रतिष्ठा एक गम्भीर शास्त्रज्ञ आचार्य के रूप में हो गयी और उनका स्मरण इसी रूप में किया जाने लगा। लोग भूल गये कि उनके किशोर मन की महत्त्वाकांक्षा 'कवि' बनने की थी। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ 'कवि' के रूप में ही किया था और अपने दो काव्य-संग्रहों *वनबाला* (1937) और *छन्दमयी* (1949) में अपने कवि मन की अनुभूतियों को उत्तर-छायावादी अन्दाज़ में अभिव्यक्ति दी थी।

उनके पहले काव्य-संग्रह *वनबाला* का प्रकाशन छायावाद के चरमोत्कर्ष के समय हुआ। तब तक छायावाद की शिखर कृतियाँ सामने आ चुकी थीं, साथ ही प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन भी सम्पन्न हो चुका था। पर डॉ. नगेन्द्र परिवर्तनशील काव्य-प्रवृत्ति से उतने प्रभावित नहीं थे, जितने प्रतिष्ठित काव्यधारा से। उन्होंने मुग्ध भाव से छायावादी रचनाओं को सराहा था। उसी प्रवृत्ति के अनुरूप, उनका मन भी प्रकृति और नारी-सौन्दर्य की मनोरम छवियों में रमता था। उनकी इन कविताओं में किशोर मन की भावमयता और उसके साथ प्रिय से एकाकार हो जाने की उत्कट ललक है। इस संग्रह का नाम जिस कविता के आधार पर दिया गया है, वह इस संग्रह की अन्तिम रचना है—एक खण्डकाव्य। इसकी कथा में दिव्यात्माओं की प्रश्रयजन्य समर्पण-भावना को वाणी दी गयी है, किन्तु इसका पर्यवसान करुणा में हुआ है।

छन्दमयी का प्रकाशन पूरे बारह वर्ष बाद हुआ। इस बीच उनके अनेक आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हो चुके थे। साहित्य में 'प्रगतिशील' और 'प्रयोगशील' काव्य-प्रवृत्तियाँ आरम्भिक विरोध झेलने के बाद प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। वय की

दृष्टि से भी *वनबाला* का किशोर कवि प्रौढ़ अवस्था में प्रवेश कर चुका था। पर उनकी काव्याभिरुचि में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

छन्दमयी की कविताओं में भी एक प्रेयसी है, जिसे कवि नाना रूपों में स्मरण करता है और उसकी अनेक छवियों को, मनोहारी भंगिमाओं को शब्द-चित्रों में ढालकर प्रस्तुत करता है। अन्तर इतना ही है कि *वनबाला* की कोमल कल्पनाशीलता अब अधिक यथार्थ-सजग और प्रौढ़ हो गयी है। 'प्लतानी प्रणय' की भ्रांति का दौर अब बीत गया और प्रणय अब केवल मन की नहीं 'काव्य-मन' की विभूति हो गया है। उनका कवि, मन की मधुमय भ्रान्ति, चेतना के भुलावे की वास्तविकता को स्वीकार करने के लिए तत्पर है :

सरले! ये सुन्दर काव्यचित्र, ये दिव्य भाव
हैं मन की मधुमय भ्रान्ति, चेतना के भुलाव !!

मूलतः वे प्रणय, कल्पना और सौन्दर्य के ही कवि हैं। पर *वनबाला* के दौर का स्वप्न-मुग्ध, कल्पनाशील किशोर कवि *छन्दमयी* में वास्तविकता की धरती पर उतर कर दैहिक अनुभवों की स्वीकृति करता दिखाई पड़ता है :

यह स्वप्न-मुग्ध कौमार्य तुम्हारा चिर सलज्ज
सम्मुख सह सकता नहीं सत्य का नग्न रूप!
सतरंगे पर्दे डाल कल्पना के झीने
करता है ज्वलित वासना का असफल दुराव!!

डॉ. नगेन्द्र छायावाद के उन कवियों के निकट दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें नव स्वच्छन्दतावादी या नव छायावादी भी कहा गया है। अभिव्यक्ति में कोई दुराव नहीं। प्रेम की उत्कट भावनाओं को शब्द-चित्रों का आधार देकर उन्होंने जीवन में सजीव और मूर्त रूपों की जो दुनिया रची है, उसमें अर्धव्यक्त, गुह्य या रहस्यानुभूति के लिए स्थान नहीं है। वे जिस प्रेयसी को सम्बोधित करते हैं, वह उनकी स्मृतियों में मनोहर भंगिमाओं और छवियों में साकार विद्यमान है। उसके साथ विरह-मिलन, अभिसार, आँख-मिचौनी की जो लीला इन कविताओं में दिखाई पड़ती है, उनमें छायावादियों का-सा वेदना-विलास या प्रेम की पीर नहीं है। हो भी नहीं सकती थी। क्योंकि वे पुरुष-भाव से रची गयी कविताएँ हैं, जिनका रचयिता केवल दाता है। वह याचक नहीं दानी है। इस भूमिका को वह दर्प से वहन करता है : *कैसे बनूँ दया का भिक्षुक रहा सदैव प्रणय का दानी।* अहं की यह चेतना *छन्दमयी* की कविताओं की पूरी बुनावट में व्याप्त है। इन कविताओं में से यदि रचयिता कवि की आत्मछवि प्रतिभासित होती है तो इसका कारण काव्य-रचना

के बारे में उनका दृष्टिकोण है। अपनी पुस्तक *विचार और अनुभूति* में उन्होंने कहा था, "मैंने भी कविता लिखी। मैं जब स्वयं अन्तर्मुखी होकर पूछता हूँ कि मैं क्यों लिखता हूँ, इसका उत्तर मैं यह पाता हूँ कि अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करना मेरे जीवन के लिए अनिवार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूँ। यही आत्माभिव्यक्ति की सहज प्रक्रिया काव्य-कला की स्वच्छन्दतावादी पहचान होती है।"

डॉ. नगेन्द्र ने अपनी कविताओं की अन्तर्वस्तु के बारे में 'कवि की अन्तर्कथा' शीर्षक से एक संक्षिप्त लेख *आस्था के चरण* के अन्त में लिखा है। इसमें उन्होंने इसकी भावभूमि पर प्रकाश डालते हुए कहा"...उस समय छायावाद की सूक्ष्म कोमल संवेदना के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी थी। एक ओर युवा कवियों का वर्ग अतींद्रिय प्रेम की वायवीय कल्पनाओं को नकारता हुआ मांसल प्रेम की उष्ण गन्ध को काव्य में समोने का प्रयत्न कर रहा था—और दूसरी ओर समाजवादी चिन्ताधारा से प्रभावित कवियों का एक अन्य वर्ग वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठा रहा था।" इस परिदृश्य में उन्होंने अपनी कविताओं का सम्बन्ध पहले ढंग की काव्य-चेतना से जोड़ा है।

दूसरी प्रवृत्ति के बारे में उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि "राजनीतिक-सामाजिक चेतना ने न जाने क्यों मुझे उद्वेलित नहीं किया।" उन्होंने इस मानसिकता में कुछ पारिवारिक कारणों की सम्भावना की तरफ़ भी इशारा किया है। कारण जो भी रहे हों, मुख्य बात है उनकी यह स्वीकृति कि "*छन्दमयी* की कविताओं का विषय वैयक्तिक जीवन की राग-विरागमयी अनुभूतियों तक सीमित रहा—एकाध जगह सामयिक परिवेश की ओर जो संकेत मिलता है उसके पीछे बुद्धि-विवेक की प्रेरणा है। प्रेम की कविताओं में मांसल अनुभूतियों की वैसी ही उष्ण गंध है, जैसी कि उस समय के युवा कवियों की रचनाओं में मिलती है। इन कवियों पर फ्रायड के अवचेतन मनोविज्ञान का प्रभाव प्रत्यक्ष रहा हो या परोक्ष, किन्तु मैंने उनके साहित्य का मनोयोग के साथ अध्ययन किया था और अनेक अतिरंजनाओं तथा अतिव्याप्तियों को अस्वीकार करने पर भी उसकी कतिपय मौलिक प्रतिपत्तियों का मेरे मन पर निश्चित प्रभाव था।" अपने इस कथन के साक्ष्य में उन्होंने अपनी कविता भी उद्धृत की है। उस उद्धरण का प्रासंगिक अंश है :

सरले! ये सुन्दर काव्यचित्र, ये दिव्य भाव,
हैं मन की मधुमय भ्रान्ति, चेतना के भुलाव!

यह स्वप्न-मुग्ध कौमार्य तुम्हारा चिर सलज्ज
सम्मुख सह सकता नहीं सत्य का नग्न रूप!
सतरंगे पर्दे डाल कल्पना के झीने
करता है ज्वलित वासना का असफल दुराव !!

सामाजिक चेतना उनकी कविताओं में उनकी मानसिक बनावट के कारण समुचित स्थान नहीं पा सकी, इतना भर नहीं है। उन्होंने उससे भरसक परहेज़ किया। 'लाल किला' शीर्षक से रचित कविता के वारे में उनका यह कथन दिलचस्प भी है और 'कवि की अन्तर्कथा' का बेबाक बयान भी, " 'लाल क़िला' कविता का सम्पूर्ण कलेवर रूप-यौवन की रंगीन कल्पनाओं से जगमग है और उसकी काव्य-संवेदना इसी में अन्तर्निहित है। कविता के अन्तिम पद में इसे सामयिक परिवेश से जोड़ने का सचेष्ट प्रयास किया गया है, किन्तु उस समय कुछ समाजचेता कवि समीक्षकों ने चाहे कितनी ही दाद दी हो, आज मुझे वह एक पैबन्द-सा ही लगता है, जिसका कवि की मूल संवेदना के साथ सहज सम्बन्ध नहीं है।"

यह केवल संयोग नहीं है कि नगेन्द्र साहित्य के अध्येताओं ने इलाचन्द्र जोशी की काव्यकृति *विजनवती* के प्रकाशन (1937) के साथ डॉ. नगेन्द्र की काव्य रचनाओं में एक समानान्तरता लक्ष्य की है। याद करना अप्रासंगिक न होगा कि लम्बे समय तक फ्रायडियन प्रभाव के तहत रचना-आलोचना करनेवाले रचनाकारों में कुछ अन्य नामों के साथ इलाचन्द्र जोशी और डॉ. नगेन्द्र का नाम एक साथ लिया जाता रहा। छायावाद के बाद, वैयक्तिक अनुभूतियों से प्रेरित कविताओं में वायवीयता और कल्पनाशीलता की जगह मांसलता और आत्मीय अनुभूतियों की प्रगाढ़ता ने ले ली। छायावादी भावबोध से रहस्यानुभूति निःशेष होने पर जो बचता है, उसे आचार्य शुक्ल स्वच्छन्दतावाद की संज्ञा देते थे। स्वच्छन्दतावादी कविताओं के प्रमुख विषय प्रकृति और प्रेम रहे। प्रेम में भी विरह, विषाद, निराशा के कुछ वही स्वर, जो स्वच्छन्दतावादी कविता की विशेषता थी, डॉ. नगेन्द्र की कविताओं में भी मिलते हैं। स्वच्छन्दतावादी काव्य की एक प्रिय युक्ति है–किसी ऐसे प्रेमी के प्रति प्रेम-निवेदन, जो अनजानी राहों का पथिक हो जाता है और फिर रह जाती है विरह की विषादमय अनुभूतियाँ। रामनरेश त्रिपाठी के तो एक लघु काव्य का नाम ही है *पथिक* और इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए जयशंकर प्रसाद ने *प्रेम पथिक* की रचना की। डॉ. नगेन्द्र ने *वनबाला* में कुछ इसी भाव से लिखा :

मेरे परिचयहीन भिखारी
तुम भी बिछुड़े निर्मम।
कह न सकी मैं एक बार भी
तुम से हँसकर प्रियतम।।

छन्दमयी तक पहुँचकर भी यह भाव निःशेष नहीं हुआ है। एक बार फिर वे कुछ बदले स्वर में इसी पीड़ा की आवृत्ति ऐसे करते हैं :

जाओगे तो, फिर जाओ ही,
मुझे भूल–जाना–पर देखो
मुझे भूलना मत निर्मोही

× × ×

लेकर भार अमित पीड़ा का
मूक अचंचल पलक उठाए
फिर न मिलोगे क्या परदेशी ?
पूछ रही थी धूमिल चितवन!

स्वच्छन्दतावादी काव्य की कुछ और छायाएँ भी डॉ. नगेन्द्र की कविता में दिखाई पड़ती हैं। काव्य-सृजन की मुख्य प्रेरणा के रूप में वियोग की स्वीकृति कवि पन्त ने : *वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान* कहकर की थी। डॉ. नगेन्द्र ने इसी भाव को कुछ ऐसे व्यक्त किया :

विफलता बनती आलम्बन
हास बन जाते आँसूकण
अचानक अरमानों की हार
विजय बन जाती है साकार।

इन पंक्तियों में सामान्य बात यह है कि एक तो कविता का उत्स विरह जैसी किसी आवेगमय अनुभूति से होता है, दूसरे सृजन की प्रक्रिया से गुज़रकर उसकी पीड़ा और दंश का विरेचन हो जाता है। 'आह' 'गान' में और 'हार' 'विजय' में बदल जाती है। यही वेदना का उदात्तीकरण है। याद करना प्रासंगिक होगा कि डॉ. नगेन्द्र ने अपनी आलोचना में भी 'औदात्य' को बहुत महत्त्व दिया है। *कामायनी* के महाकाव्यत्व का आधार उनकी दृष्टि में यही उदात्त है, जो उसकी अन्तर्वस्तु से शैली तक सर्वत्र देखा जा सकता है।

समय का दबाव भी डॉ. नगेन्द्र की कविताओं पर कहीं-कहीं लक्षित किया जा सकता है। ऐसी कविताओं की रचना भले ही उन्होंने सायास की हो और उन्हें

उनका विशेष सम्बन्ध कवि की मूल संवेदना से न दिखाई पड़ता हो, पर परिवेश और यथार्थ की उपेक्षा वे चाहकर भी कर नहीं पाए। ऐसी एक कविता है 'भ्रान्त पथिक', जिसमें श्रीधर पाठक के 'श्रान्त पथिक' की प्रतिध्वनि, कम से कम शीर्षक में तो सुनाई पड़ती ही है, पर इसकी अन्तर्वस्तु पर यथार्थ का दबाव भी स्पष्ट है। कविता का आरम्भ उन्होंने मंगलाचरण की रूढ़ि के निर्वाह से किया, पर उसके बाद उनकी दृष्टि युद्धजन्य वातावरण पर टिक गयी। राजधानी दिल्ली निद्रालीन है—'अचेत प्रौढ़-सी।' कवि को उसके अतीत-वैभव की स्मृतियाँ आन्दोलित कर रही हैं कि तभी जैसे स्वप्न भंग करती हुई युद्ध की वास्तविकता उजागर हो जाती है :

इतने में घर-घर शब्द हुआ।
रजनी का नीरव वक्ष चीर घर्राया वायुयान।।
अन्तर्चेतन में छिपे हुए सब खड़े हो गये मूर्तिमान।
मोटे हरफ़ों में लिखे हुए पत्रों के रण के समाचार।।

यहाँ भी ध्यान देने की बात यह है कि वायुयान की घरघराहट, जो एक वास्तविकता है, प्रकट दृश्य से ज़्यादा अन्तर्चेतन में दबे-छिपे अक्षर-बिम्बों को मूर्तिमान करने का काम करती है। युद्ध की विभीषिका उन तक समाचार-पत्रों में छपे मोटे हरफ़ों की शक्ल में यानी समाचार रूप में ही पहुँचती है। यथार्थ उनकी कविताओं में जहाँ-तहाँ प्रकट तो होता है, पर वस्तु-रूप में इतना नहीं, जितना प्रभाव रूप में। इसका एक और उदारहण *वनबाला* में संकलित उनकी 'बन्दी का पत्र' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है, जहाँ कवि की दृष्टि 'बन्दी' के जीवन और उसकी वस्तुगत सामाजिक स्थिति पर उतनी नहीं जाती, जितनी करुणा-मिश्रित राष्ट्रीयता के भाव को अभिव्यक्त करने पर।

डॉ. नगेन्द्र के मन में इस बात को लेकर न कोई भ्रम है और न ही उन्होंने इस बात को स्वीकार करने में कभी कोई संकोच किया कि समय की गति के साथ हिन्दी कविता में जो प्रवृत्तिगत परिवर्तन हो रहा था, उसके साथ वे तालमेल नहीं बैठा सके। काव्य-रचना के प्रति उदासीन हो जाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है। अपने काव्य-संकलन के पुनर्मुद्रण के अवसर पर, भूमिका में उन्होंने अपनी काव्य-रचना विरति की व्याख्या करते हुए बताया कि ''एक तो काव्यशास्त्र में मन पूरी तरह रम गया—क्योंकि उसमें आस्वाद रस और बुद्धि का चमत्कार दोनों ही किसी-न-किसी रूप में प्राप्त होते रहे। दूसरा कारण यह भी था कि इस अवधि में कविता अपने रम्य उपवन को छोड़कर आधुनिक

यथार्थ की संघर्षमयी बस्ती में जाकर रहने लगी, जहाँ पहुँचने का मुझे कभी उत्साह नहीं हुआ।''

इसी भूमिका में डॉ. नगेन्द्र ने विस्तार से अपनी काव्य-सृजन की प्रक्रिया और इतिहास, दोनों का खुलासा किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत ब्योरे में कुछ बातें ध्यान देने की हैं। पहली तो यह कि उन्होंने सन् 1931-32 के बीच काव्य-रचना आरम्भ की और जिन आरम्भिक आठ-दस पद्यों की रचना की उनमें से तीन-चार ब्रजभाषा में और शेष खड़ी बोली में रचे गए थे। अपनी याददाश्त से इनमें से जो एक छन्द उन्होंने उद्धृत किया, उसकी भाषा ब्रज है, छन्द सवैया है और उसकी रचना समस्यापूर्ति के लिए की गयी है। इसके साथ ही यह भी कि इस पर कवि-सम्मेलन में काफ़ी साधुवाद मिला। यानी जिस समय हिन्दी में छायावादी कवियों की अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ सामने आ चुकी थीं और छायावाद लगभग अपने शिखर पर था, तब भी डॉ. नगेन्द्र ने रीतिकाल की अवसानोन्मुख प्रवृत्ति का अनुसरण किया। उनकी ब्रजभाषा में समस्यापूर्तियाँ रसिक गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में ही सराही जाती थीं। कविता के गम्भीर पाठकों की रुचि उस ओर नहीं रह गयी थी।

इन रचनाओं के साथ ही उनका रुझान संस्कृत और अंग्रेज़ी की कविताओं के अनुवाद करने की ओर भी हो गया था। इस प्रसंग में उन्होंने भर्तृहरि के एक श्लोक और गोल्डस्मिथ के 'दि ट्रैवेलर' का हवाला दिया है। इन दोनों ही प्रसंगों में उन्होंने जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसमें आकर्षित करनेवाली बात है—उनका शब्द-विवेक और गम्भीर दायित्व-बोध। कविता की पंक्तियाँ रचते या अनुवाद करते समय वे शब्द-मैत्री और शब्द की प्रसंगानुरूपता पर ध्यान देते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन रचनाओं में बराबर संशोधन करते चलते थे। अपने जीवन-काल के अन्तिम दौर में *विश्व काव्य चयनिका* नाम से उन्होंने विश्व की कालजयी कविताओं का संकलन करके उन्हें अनुवाद के माध्यम से हिन्दी के पाठकों को सुलभ कराया। इस संकलन में उन्होंने स्वयं कुछ कविताओं के अनुवाद की ज़िम्मेदारी ली। उनके इस 'आत्मकथन' से समझ में आता है कि इस 'चयनिका' में एक बार फिर अत्यन्त सफल और समर्थ काव्यानुवादक के रूप में उनकी छवि का उभरकर सामने आना क्योंकर सम्भव हुआ होगा।

जहाँ तक आरम्भिक काव्य-रचना का सम्बन्ध है, उन्होंने स्वयं यह स्पष्ट किया है कि क्रमशः समस्यापूर्तियों जैसे सचेष्ट रचना-कर्म से मौलिक काव्य-सृजन की ओर वे अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों और हिन्दी के छायावादी काव्य के प्रभाव से मुड़े। उनकी आरम्भिक रचनाएँ चूँकि ब्रज-मण्डल के अन्तर्गत होनेवाले कवि

सम्मेलनों के लिए लिखी गयी थीं, इसलिए वे समस्यापूर्तियों की उस चमत्कारधर्मी प्रवृत्ति का अनुसरण तो करते ही रहे, जो कवि सम्मेलनों में तब तक चल रही थी, पर यहीं स्वतंत्र विषयों पर काव्य-रचना को भी सराहा जाने लगा था और उन्होंने समस्यापूर्तियों पर वाहवाही भले ही लूटी हो, पर आगरे के कवि समाज में प्रतिष्ठा उन्हीं कविताओं से पाई जो 'छायावादी' रचनाओं से प्रेरित थीं। छायावाद के रंग में निराला की प्रसिद्ध कविता के अनुकरण पर लिखी गयी अपनी पहली कविता 'तुम और मैं' को उन्होंने उद्धृत करते हुए कहा कि आगरा के कवि समाज में उनकी पहचान इसी कविता से क़ायम हुई :

तुम बुद्धदेव का विमल स्थान,
मैं लिप्सा घोर असार।
तुम सौम्य शान्त रस की धारा,
मैं विप्रलंभ श्रृंगार।।

इन पंक्तियों का छन्द और भंगिमा दोनों निराला से गहरे प्रभावित हैं। शेष के बारे में डॉ. नगेन्द्र का कहना था, "इसमें प्रयुक्त प्रतीक और बिम्ब सर्वथा मेरे अपने थे और उनमें से कुछ-एक अच्छे भी थे।" इस दौर में रची गयी अन्य कविताओं में से कुछ को छोड़कर बाक़ी बाद में *वनबाला* में संकलित कर दी गयीं।

काव्य-रचना छोड़ देने के वर्षों बाद, जब कविता को उनसे विदा लिये लगभग चालीस वर्ष का समय बीत चुका था, डॉ. नगेन्द्र ने अपने काव्य-संकलनों की यह भूमिका लिखी। इस आत्मकथन में उन्होंने जिस बेबाक और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से आत्मविश्लेषण और अपनी कविता का विवेचन किया है, उसमें उनके कवि के बरक्स उनका आलोचक खड़ा दिखाई पड़ता है। वे अपने कवि-कर्म का इतिहास ही नहीं बताते, अपनी प्रेरणाओं, प्रभावों, मान्यताओं, आग्रहों का बड़ी तटस्थना से, लगभग एक बाहरी व्यक्ति की तरह खुलासा करते चलते हैं। इससे उनकी रचना-यात्रा की जानकारी तो होती ही है, उनकी कविताओं की अन्तर्वस्तु और शैली की विशेषताएँ भी उद्‌घाटित होती चलती हैं और यह भी छिपा नहीं रहता कि उन्हें इस बात का पूरा एहसास है कि आरम्भिक वर्षों में उन्होंने स्थानीय कवि-सम्मेलनों में कुछ वाहवाही भले ही लूट ली हो, किन्तु अपनी रुचि और मानसिक बनावट के कारण वे अपने समय के साथ नहीं, उससे बहुत पीछे चल रहे थे। काव्य-प्रवृत्ति की दृष्टि से वे समकालीन यथार्थ और राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य से कतराते रहे। इसीलिए उन्होंने कविता से, या कविता ने उनसे विदा लेना ही मुनासिब समझा।

□

9

काव्यानुवाद

लम्बे समय तक काव्य-रचना के प्रति उदासीन रहने के बाद *विश्व काव्य चयनिका* में अनुवादों के माध्यम से कवि नगेन्द्र की वापसी हुई। यह संयोग भर नहीं है कि कविताओं के अच्छे अनुवाद प्रायः कवियों के द्वारा ही किए जाते रहे हैं। क्रोचे ने अनुवाद को असम्भव माना था। हरिवंश राय बच्चन जैसे कवि ने भी इस कठिनाई को *शेक्सपीयर के सॉनेट* की भूमिका में स्वीकार किया है। भूलना नहीं चाहिए कि बच्चन स्वयं बड़े लोकप्रिय कवि हैं और हिन्दी और अंग्रेज़ी, दोनों भाषाओं पर उनका समान अधिकार है। कठिनाई का उल्लेख करने के बावजूद, उन्होंने कविता से लेकर नाटकों तक अनेक अनुवाद किए हैं। सारी कठिनाइयों के रहते हुए भी साहित्यिक रचनाओं के अच्छे अनुवाद हुए ही हैं। पठन-पाठन के क्षेत्र में अनुवाद की उपयोगिता और अनिवार्यता से इनकार नहीं किया जा सकता।

विश्व काव्य चयनिका के सम्पादन के पीछे डॉ. नगेन्द्र की यह इच्छा काम कर रही थी कि हिन्दी के पाठकों को विश्व काव्य की कुछ कालजयी रचनाओं की बानगी देखने का अवसर मिले। पर इस संचयन में उन्होंने स्वयं जिस रूप में सफल काव्यानुवादक की भूमिका का निर्वाह किया, वह बड़ा सुखद विस्मय जगाता है। लम्बे समय तक पाठकों का परिचय उनके जिस शास्त्रनिष्ठ आलोचक और रुक्ष अनुशासन प्रिय प्रशासक-रूप से रहा, उसके कारण यह लगभग विस्मृत हो गया था कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ काव्य-रचना से किया था। उनके काव्यानुवादों की काव्यात्मकता का इस बात का प्रमाण है कि उनकी कवि-प्रतिभा आलोचकीय विवेक और विवेचन-विश्लेषण से आच्छादित रहकर भी बराबर जीवित और जाग्रत रही। उनके काव्यानुवादों में जिस भाव-समृद्ध संवेदनशील हृदय और कुशल शैलीकार के दर्शन होते हैं, वह कवि-हृदय सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा ही सम्भव हो सकता था।

अनुवाद की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी यह होती है कि अनुवाद, अनुवाद न लगे। वह मौलिक रचना का सा आस्वाद दे, भले ही इसके लिए अनुवादक को मूल रचना के साथ कुछ छूट लेनी पड़े। डॉ. नगेन्द्र के इन अनुवादों में सबसे पहली बात जो ध्यान आकर्षित करती है, वह है, चुने हुए अंशों की विविधता। उन्होंने जिन मूल रचनाओं को चुना है, उनके कवि अलग-अलग देश काल के, अलग-अलग भाषाओं के ऐसे कवि हैं, जिनकी मानसिक बनावट और जीवन-दृष्टि, एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। इनमें अंग्रेज़ी के शेक्सपीयर, मिल्टन और वर्ड्सवर्थ, जर्मन के कवि हाइने के साथ संस्कृत के कालिदास और तमिळ के कवि कंबन तक शामिल हैं। दिलचस्प बात है कि विदेशी कवियों की चुनी हुई रचनाओं में और अंशों के साथ उन्होंने 'सॉनेट' का चुनाव विशेष रूप से किया है। इनमें शेक्सपीयर और मिल्टन के एक-एक सॉनेट के अलावा वर्ड्सवर्थ के भी दो सॉनेट शामिल है। साथ ही नाटक *हेमलेट* से नायक के अन्तर्द्वन्द्व वाला अंश, मिल्टन के *पैराडाइज़ लॉस्ट* के प्रथम खंड से एक अंश और कवि हाइने की तीन कविताएँ। कालिदास के *अभिज्ञान शाकुंतलम्* से कुछ पंक्तियाँ और कंबन के महाकाव्य से सीता की मनोव्यथा को व्यक्त करनेवाला अंश। इन रचनाओं में स्पष्ट रूप से क्लासिकी और रोमानी, या फिर क्लासिकी तेवर की रोमानी रचनाएँ शामिल हैं। इन कवियों के पारस्परिक अन्तर के अलावा कहीं-कहीं एक ही कवि की दो रचनाओं का मिज़ाज एक दूसरे से बिलकुल अलग है। उदाहरण के लिए मिल्टन के 'सॉनेट' में उनके अपने अन्धेपन के विवशता-जन्य दीन भाव का पर्यवसान प्रभु की इच्छा के प्रति समर्पण और शान्ति की भावना में होता है, तो उधर *पैराडाइज़ लॉस्ट* वाले अंश में स्वर्ग से निष्कासन के बाद शैतान की तिलमिलाहट के बावजूद उसकी 'अजेय इच्छा-शक्ति' यथावत् वर्त्तमान है। एक ओर शैतान का दर्प और दूसरी ओर 'सॉनेट' में कवि की स्वानुभूत दीनता, दोनों का अनुवाद मूल रचना की 'स्पिरिट' के अनुरूप समानाधिकार से किया गया है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुवादों में एक निश्चित पद्धति दिखाई पड़ती है। वह पहले मूल रचना के प्रभाव को आत्मसात कर लेते हैं। फिर शब्दों के पर्यायों में से चुनाव करते समय वे प्रायः ऐसे शब्द चुनते हैं, जो हिन्दी भाषा की प्रकृति और वाक्य-रचना के अनुरूप हों यानी उससे मेल खाते हों। इसके साथ ही उनकी दृष्टि इन शब्दों के प्रचलन पर भी टिकी रहती है। ऐसा करते हुए देश-काल और वातावरण उनकी नज़र से ओझल नहीं होते। जहाँ सांस्कृतिक अवरोध का सामना होता है, वहाँ वे निस्संकोच उसका देसी संस्करण खोज निकालते हैं। हाइने की

कविता में आये 'स्प्रूस' वृक्ष के स्थान पर, उन्हीं के शब्दों में, ''भारतीय संस्कार में ढालने के उद्देश्य से... उसी के समकक्ष 'देवदार' वृक्ष का प्रयोग किया गया है।''

ऊर्ध्व दिशा में, पर्वत की बंजर चोटी पर
खड़ा हुआ देवदार पादप एकाकी। *(हाइने : सपना)*

मूल कविताओं के विदेशीपन को उन्होंने बड़ी सतर्कता से देसी रंग में रंगकर प्रस्तुत किया है। विदेशी रचनाओं के यह देसी संस्करण तैयार करने के लिए उन्हें अपेक्षा के अनुरूप कहीं कुछ जोड़ना, कहीं छोड़ना और कहीं यथावश्यक परिवर्तन करना पड़ा है। पर इसके लिए वे कभी असमंजस में पड़े हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। उनके लिए मुख्य बात है व्यवहार, प्रचलन और शब्द मैत्री। उदाहरण के लिए, वर्ड्सवर्थ के सॉनेट का यह अनुवाद :

बाल सूर्य की शान्त-स्निग्ध निर्मल आभा का
पहना है कौशेय वसन-सा शान्त नगर ने
वे गुंबद, मीनार, नाट्यगृह औ' गिरजाघर
फैले हैं, विस्तीर्ण क्षेत्र में, दूर क्षितिज तक
चमक रहे हैं आज सभी निर्धूम वायु में।

(वड्सवर्थ : प्रभात की शोभा)

(This city now doth like a garments wear
The beauty of the morning; silent, bare,
Ships, towers, domes, theatres and temples lie
Open into the fields, and to the sky;
All bright and glittering in the smokeless air)

अनूदित पंक्तियों में आकर्षित करनेवाली बात है कि वह अनूदित नहीं मौलिक रचना प्रतीत होती है। रेखांकित शब्दों पर ध्यान दें तो सहज दिखाई पड़ेगा कि कवि ने सफल अनुवाद करने के लिए मूल के साथ कितनी छूट ली है। उन्होंने मूल रचना के प्रभाव को आत्मसात् करके मानों हिन्दी की तत्सम पदावली में नए सिरे से उसकी पुनर्रचना की है। मूल रचना से अनूदित पदावली में जो विचलन नज़र आता है, वह वस्तुतः हिन्दी भाषा की प्रकृति की दृष्टि से बिम्बों का अनुकूलन है। बाल सूर्य की 'शान्त-स्निग्ध निर्मल आभा', 'कौशेय वसन' 'निर्धूम वायु' जैसी पदावली में छायावाद की अनुगूँज स्पष्ट सुनी जा सकती है। कहीं-कहीं छन्द के आग्रह से भी वे अतिरिक्त शब्द जोड़ देते हैं, पर बड़े विवेक से, भरती के लिए

नहीं, जैसे City से पहले 'शान्त' विशेषण का प्रयोग।

इस कविता की रचना प्रभात की शोभा के दृश्य को प्रस्तुत करने के लिए नहीं, उसके सामने खड़े प्रत्यक्षदर्शी कवि के मुग्ध मनोभाव की व्यंजना के लिए की गयी है। रोमांटिक कवियों की यह प्रिय शैली थी। अनुवादक ने रचना के इस मूल भाव से पूरी तरह तादात्म्य कर लिया है। उसके बाद उसने उस मूल भाव को हिन्दी मुहावरे में ढालकर प्रस्तुत किया है। न यह अनुवाद शब्दशः मिलान करने पर खरा उतरेगा, न इसकी भाषा बोलचाल की भाषा के उतनी करीब है जितनी वड्र्सवर्थ की भाषा। पर अपने प्रभाव में वह मूल भाव से पूरा न्याय करती है और हिन्दी की छायावादी काव्य सृष्टि के प्रचलित मुहावरे के सर्वथा अनुरूप दिखाई पड़ती है। यह सही अर्थ में वड्र्सवर्थ की मूल रचना का भावानुवाद है।

डॉ. नगेन्द्र ने मूल रचनाओं के साथ यह छूट बराबर ली है। कहीं-कहीं अंग्रेज़ी के मूल शब्द का हिन्दी में शब्दानुवाद करने पर या तो कथ्य पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता या फिर वह हिन्दी मुहावरे के अनुकूल नहीं प्रतीत होता। ऐसे स्थलों पर शब्द बदलकर उसे हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप ढालने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता। मिल्टन के 'सॉनेट' की पंक्तियाँ हैं :

Doth God exact day-labour light denied?
I *fondly* ask. But *patience* to prevent
That murmur soon replies......

डॉ. नगेन्द्र ने इनका अनुवाद किया :

तो मेरा अविवेक प्रश्न करता है मुझसे :
"दृष्टिहीन जब किया मुझे मेरे स्रष्टा ने
फिर क्यों आशा करता है मुझसे अर्चना की?"
किन्तु तभी मेरा विवेक जाग्रत हो कहता है—

(मिल्टन : नेत्रहीन कवि का उपालंभ)

इस अनुवाद में fondly (मूर्खता से) के लिए 'अविवेक' का प्रयोग तो एक सीमा तक मूल शब्द के निकट माना जा सकता है, लेकिन 'अविवेक' के प्रतिशब्द के रूप में जब वे patience (धैर्य) के लिए 'विवेक' का चुनाव करते हैं, तो यह छूट शब्द-मैत्री की दृष्टि से 'अविवेक' के बरक्स 'विवेक' का प्रयोग करने के लिए ली गयी है। अर्थ की दृष्टि से patience के साथ विवेक का कोई सम्बन्ध नहीं है। पर इस परिवर्तन के बावजूद कवि के मूल भाव को ग्रहण करने में अनुवाद बाधक नहीं होता।

डॉ. नगेन्द्र की दृष्टि बराबर इस बात पर टिकी रहती है कि मूल रचना का 'अर्थ' अनुवाद में यथासम्भव अपनी पूर्णता में स्थानान्तरित हो जाए। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने तरह-तरह की युक्तियों का प्रयोग किया है। जहाँ उन्हें लगा कि कवि का अभिप्रेत शब्दानुवाद से पूरा नहीं होता, वहाँ वे व्याख्या से अर्थ को सिद्ध करते हैं। हेमलेट का प्रसिद्ध स्वगत-कथन इसका उदाहरण है :

To be or not to be—That is the question;

इस पंक्ति का अनुवाद विस्तार से समझाते हुए ऐसे किया गया है :

जीना है मुझको या कि जीना नहीं है अब।
यही मूल प्रश्न मेरे सामने खड़ा है आज।

(हेमलेट का अन्तर्द्वन्द्व)

मूल पंक्ति में शेक्सपीयर का बल the पर है। इसका अनुवाद 'यही' भी हो सकता था, पर उसमें यह बात पैदा नहीं होती, जो मूल प्रश्न पद के प्रयोग से हुई है।

इसी तरह वड्र्सवर्थ के जिस दूसरे सॉनेट का अनुवाद उन्होंने किया है, उसकी एक पंक्ति है :

Little we see in Nature that is ours

इस पंक्ति का विस्तार (अनुवाद में) समझाने की गरज़ से इस रूप में किया गया है :

नहीं देखते रम्य प्रकृति को–
जो अपनी आत्मीय रही है आदिकाल से

(वड्र्सवर्थ : हैं हम अतिशय लिप्त सदा जग की माया में)

मूल पंक्ति में न 'रम्य' विशेषण का वाचक कोई शब्द है, और न 'आत्मीय' और 'आदिकाल' के लिए अलग शब्द हैं। पर 'ours' में आत्मीयता की जो व्यंजना है, उसके लिए अनुवादक को 'हमारा' काफ़ी और उचित नहीं लगा होगा, इसलिए उन्होंने उसके लिए 'आत्मीय' के साथ 'आदिकाल से' जोड़कर सम्बन्ध को कालगत आयाम दे दिया।

ऐसे प्रसंगों के बारे में अनुवाद की 'मूलनिष्ठता' का प्रश्न उठाया जा सकता है। इस बारे में, डॉ. नगेन्द्र के अभिमत का स्मरण करना प्रासंगिक होगा। उनका एक निबन्ध है 'काव्यानुवाद : संभाव्यता का प्रश्न'। इस शीर्षक से ही, दूसरे अनुवादों की तुलना में काव्यानुवाद की कठिनाई का संकेत मिलता है। वे

काव्यानुवादों में घटनाओं यानी तथ्यप्रधान अंशों के अनुवाद को अपेक्षाकृत सरल मानते हैं। उनकी तुलना में, ''विचार का संप्रेषण उसके सूक्ष्म रूप के कारण निश्चय ही कठिन होता है'', परन्तु उनके अनुसार, ''अनुभूति की अनुवाद की कठिनाई यह है कि उसका स्वरूप अमूर्त होने के साथ-साथ तरल भी होता है।'' वे 'मूल अनुभूति के आस्वाद को दुष्कर' नहीं मानते, पर 'भाषान्तर द्वारा कलात्मक अनुभूति के संप्रेषण' को 'दुस्साध्य' समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह दुस्साध्यता शैली के कारण पैदा होती है। क्योंकि 'काव्य-शैली का अनुवाद और भी अधिक असाध्य साधना है।''

इस 'असाध्य साधना' का विस्तार से विवेचन करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि काव्य के अनुवादक को ''मूल रचना का रूपान्तरण वरन् पुनः सर्जन करना होता है। ...उसके लिए अनुवादक में कवित्व शक्ति और स्पष्ट शब्दों में काव्य-सर्जना की प्रतिभा का होना आवश्यक है। उसे मूल कृति का बार-बार मनन कर, अपनी चेतना में कृतिकार की सर्जनात्मक मनःस्थिति का उद्‌बोध करना आवश्यक हो जाता है। तभी वह मूल कृति की संवेद्य अनुभूति को आत्मसात् कर उसे अपनी भाषा में अभिव्यक्त कर सकता है।...कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सम्पूर्ण प्रक्रिया पुनः सृजन की प्रक्रिया है।''

डॉ. नगेन्द्र के इस कथन पर ध्यान देने पर उनकी अनुवाद-पद्धति को आसानी से समझा जा सकता है। काव्यानुवाद में उन्हें सबसे दुस्साध्य काव्य-शैली प्रतीत होती थी। स्वभावतः अपने अनुवादों में उन्होंने सबसे अधिक सतर्कता शैली के सन्दर्भ में ही बरती है। चूँकि वे अनुवाद को पुनः सृजन मानते थे, इसलिए अगर उनकी भाषा पर छायावादी भाषा की गहरी छाप है तो इसे सहज ही कहा जाएगा। Garment के लिए 'कौशेय वसन' और सुबह के silent, bare विशेषणों के लिए 'शान्त-स्निग्ध निर्मल आभा', ऐसे ही प्रयोग हैं। उनकी तत्सम पदावली पर कहीं कहीं मैथिलीशरण गुप्त की भाषा की छाया भले ही दिखाई पड़ जाए, पर छायावाद के बाद की कविता में जो व्यवहार की सादगी और मुहावरेदानी दिखाई पड़ती है, उसके दर्शन नहीं होते। अनुवाद की भाषा में यह विशेषता उनके कवि-रूप के दबाव से ही आयी है।

डॉ. नगेन्द्र ने जिन कविताओं को अनुवाद के लिए चुना, वे सब छन्दोबद्ध हैं—तुकान्त और अतुकान्त दोनों रूपों में। डॉ. नगेन्द्र ने अनुवाद करते समय छन्द-लय का पूरा ध्यान रखा है। उन्होंने छन्दों का चुनाव हिन्दी भाषा की प्रकृति और काव्य-विषय को ध्यान में रखकर किया है। 'रोला' हिन्दी का प्रिय छन्द है। डॉ. नगेन्द्र ने जिन कविताओं को चुना वे सभी मूलतः आत्मपरक है—कवि

या काव्य-निबद्ध पात्र की निजी भावनाओं, भावावेग या आवेग के शमन का बयान। मिल्टन के सॉनेट का अनुवाद करते हुए रोला की लय का प्रयोग भावनाओं के उतार-चढ़ाव के लिए कुछ ऐसे किया गया है :

जब मैं (हूँ) सोचता कि मेरी ज्योति खो गयी
किन्तु आयु है शेष अभी आधी से ज़्यादा
और दिव्य मेरी प्रतिभा यह जो न मरेगी कभी
मृत्यु के अन्तिम क्षण तक—
यों ही निष्क्रिय पड़ी हुई है।

(मिल्टन : नेत्रहीन कवि का उपालंभ)

[When I consider how my light is spent
Ere half my days, in this dark world and wide,
And that one talent which is death to hide
Lodged with me useless......]

ऐसे प्रसंगों से भिन्न जब वे कथात्मक विन्यासवाली रचनाओं का अनुवाद करते हैं तो उन्हें उनके लिए कवित्त की लय ज़्यादा संगत जान पड़ती है। *पैराडाइज़ लॉस्ट* के एक प्रसंग का अनुवाद है :

युद्ध में हुई है हार
किन्तु अभी शेष है अजेय इच्छाशक्ति और
विचार प्रतिशोध का,
साहस अदम्य कभी झुकने न हारने का, तीव्र घृणा भावना।

(मिल्टन : आह्वान)

[.....What though the field be lost :
All is not lost : the unconquerable will,
And study of revenge, immortal hate,
And courage never to submit or yield.]

इसी कवित्त-लय का सहारा लिये हुए एक छन्द *कंबन-रामायण* से :

ऐसे ही कारुणिक विचारों में लीन हो,
विह्वल विकल हुई पतिप्राणा भूमिजा,
म्लान मुख श्री हुई, कांति क्षीण हो गयी
सीता जिस भूमि पर बैठी थीं, उसको
दीमक ने खा लिया था पर वे उठीं नहीं। (सीता की वेदना)

काफ़ी सतर्कता बरतने के बावजूद डॉ. नगेन्द्र कहीं-कहीं चूक गये हैं। मिल्टन के जिस सॉनेट का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उसमें आये 'talent' शब्द का अनुवाद उन्होंने 'प्रतिभा' किया है। 'talent' का एक दूसरा अर्थ है 'एक प्रकार का सिक्का'। शब्द के इस अर्थ का सम्बन्ध *बाइबिल* की एक दृष्टान्त-कथा से है। इस कथा में एक व्यापारी का मूर्ख नौकर मालिक द्वारा दिए गये एक सिक्के को सुरक्षा के विचार से ज़मीन खोदकर उसमें दबा देता है और सिक्का इस प्रकार काम में लगाकर बढ़ाए जाने के बजाय अनुपयोगी और व्यर्थ पड़ा रह जाता है। सॉनेट में प्रयुक्त 'टेलेंट' से मिल्टन का इशारा उस दृष्टान्त-कथा की ओर भी है, जिसके अनुसार ईश्वर ने जिस 'प्रतिभा' को उन्हें संभालने, सँजोने और उसका सदुपयोग करने के लिए दिया था, उसका वह अपनी अंधता के कारण उपयोग नहीं कर पाएँगे और वह व्यापारी द्वारा उस मूर्ख नौकर को दिए गये 'सिक्के' की तरह निष्क्रिय पड़ी रहेगी। मूल कविता में 'टेलेंट' में श्लेष का जो चमत्कार है, वह अनुवाद में नज़र से ओझल हो गया है। मूल सॉनेट में 'Lodged with me', पद में यह स्पष्ट है कि कवि किसी 'अपर' सत्ता की ओर संकेत कर रहा है। इस श्लेष को न पकड़ पाने के कारण death to hide का अनुवाद 'जिसे छिपाना मृत्यु-सम है' के बजाय 'मृत्यु के अन्तिम क्षण तक' कर दिया गया है।

ऐसी सीमाओं के बावजूद, इन अनूदित कविताओं की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि ये अनुवाद नहीं लगतीं। मूल कविताओं की अर्थ-गरिमा को पूरी तरह बनाए रखकर भी ये मौलिक रचनाओं का सा प्रभाव छोड़ती हैं। साहित्यिक अनुवाद, वस्तुतः भावानुवाद ही होता है, क्योंकि उसका मुख्य सरोकार, मूल रचना के संवेद्य को पाठक तक पहुँचाना होता है। जहाँ तक भाषा-शैली का प्रश्न है, उस पर अनुवादक की अपनी अभिरुचि और काव्य-संस्कार की छाप होना स्वाभाविक ही है। इन अनूदित कविताओं में यह छाप काव्यांशों के चयन से लेकर उनके पुनस्सर्जन तक स्पष्ट देखी जा सकती है।

□

10

आत्मकथा

डॉ. नगेन्द्र ने सर्जनात्मक साहित्य में कविता और काव्यानुवाद के अलावा, जीवन के सांध्यकाल में एक आत्मकथा भी लिखी। इस रचना के लिए उन्होंने शीर्षक चुना 'अर्धकथा'। हिन्दी की पहली आत्मकथा बनारसीदास जैन ने इसी शीर्षक से लिखी थी। डॉ. नगेन्द्र को इस बात की जानकारी थी। इसलिए उनके मन में यह शीर्षक देने के बारे में बड़ा असमंजस था। पर उनकी विवशता अपनी जगह थी। उन्होंने तय किया था कि वे केवल अपने जीवन की बहिरंग कथा लिखेंगे। उनके शब्दों में 'प्रोफ़ेशनल' जीवनी। यह सवाल अलग है कि सही अर्थ में इसे 'आत्मकथा' कहा जा सकता है या नहीं। शायद इसे विस्तृत 'जीवन-वृत्त' कहना ज़्यादा उचित होगा।

दरअसल 'आत्मकथा' लिखने के लिए लेखक में दो विशेषताएँ ज़रूरी हैं—'ईमानदारी' और 'साहस'। 'ईमानदारी' इसलिए कि वह अपने से बाहर 'अन्य' की तरह खड़ा होकर अपनी ख़ूबियों और ख़ामियों को देख सके—वस्तुनिष्ठ तटस्थ भाव से। अपने प्रति निर्मम होकर। इस आत्मपरीक्षण के बाद उससे अपेक्षा की जाती है कि वह बिना किसी संकोच के, लगभग आत्मस्वीकार (कनफ़ेशन) के रूप में पाठकों के लिए उसका रचनात्मक बयान प्रस्तुत करे। ज़ाहिर है ऐसा साहस विरले लोग जुटा पाते हैं। ऐसी बेबाक आत्मकथाओं में रूसो के *कनफ़ेशंस* और गाँधी जी की *सत्य के प्रयोग* जैसी गिनी-चुनी मानक रचनाएँ ही दिखाई पड़ती हैं, गोकि रूसो समेत, ऐसी आत्मकथाओं के बारे में यह सिद्ध हो चुका है कि इनमें भी सत्य कम और गल्प अधिक है।

लेखक कुछ बातों में असामान्य होते हुए भी एक औसत सामाजिक प्राणी होता है। इस दृष्टि से परिवार, समाज, मित्र-समुदाय सबके प्रति उसकी नैतिक ज़िम्मेदारी, जवाबदेही होती है। वह औरों के सन्दर्भ में एक आत्म-छवि का निर्माण करता है। जाने-अनजाने इस आत्म-छवि को वह तिल-तिल अपने कर्मों और

आचरण के औचित्य-निरूपण के सहारे गढ़ता है। इस प्रक्रिया में अपनी कमज़ोरियों को अनदेखा करना और दूसरों से छिपाना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। परिणामतः आत्मकथा लिखते समय, आत्मोद्‌घाटन के साहस के बजाय, आत्मगोपन की चतुराई या आत्मातिरंजन का उत्साह सक्रिय हो जाता है और वे तथाकथित आत्मकथाएँ, आत्मगौरव की गाथाएँ होकर रह जाती हैं। इस शैली की अविश्वसनीय, अधूरी आत्मगाथाओं में, जागरूक पाठक की कोई रुचि नहीं होती। इसके अलावा किसी रचनाकार का जीवन एकल नहीं होता। रचनाकार अपनी छवि को बचाए और बनाए रखने के प्रयास में अक्सर प्रस्तुत वृत्तान्त के अभिकर्ता अन्य पात्रों के साथ या अधूरा न्याय करता है या अन्याय। उसके द्वारा पेश की गयी अधूरी तस्वीरें प्रायः विवाद और आलोचना को जन्म देती हैं। इसलिए यह संयोग भर नहीं है कि बड़े धुरंधर रचनाकार भी आत्मकथाएँ लिखने से या कतराते रहे हैं या उन्होंने उन्हें औपन्यासिक विधान देकर लिखा है—तथ्य का कल्पनात्मक पुनस्सृजन।

आत्मकथा लिखने में एक और कठिनाई है। भोगनेवाले और रचनेवाले मनुष्य के बीच जिस अन्तर को बनाए रखना रचना के हित में ज़रूरी होता है, वह अपने वारे में लिखते हुए अक्सर या तो मिट जाता है या उसका अनुपात भंग हो जाता है। जो जिया है, वह अपनी समग्रता में न आत्मकथा का विषय हो सकता है न होना चाहिए। पहली कठिनाई रचनाकार के सामने घटनाओं और प्रसंगों के ग्रहण और त्याग की होती है। चुनौती अपने भोगे हुए को औरों के लिए संवेद्य बनाने की होती है। इसलिए अपनी बात को सम्भावित पाठक की ज़रूरत और दिलचस्पी को ध्यान में रखकर पेश करने के लिए तटस्थता और विवेक ज़रूरी होता है। 'आत्मकथा' में पाठक की रुचि या तो नायक के व्यक्तित्व के महत्त्व के कारण होती है, या फिर उस सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य के कारण जिसका या तो वह साक्षी रहा है या उसमें उसकी कोई भूमिका रही है। पहली स्थिति में सामाजिक परिदृश्य के बीच व्यक्ति प्रधान होता है और दूसरी में व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक परिदृश्य की प्रस्तुति। पर अक्सर औसत दर्जे की आत्मकथाएँ आत्ममोह या आत्ममुग्धता के भाव से गढ़ी हुई आत्मछवि के सार्वजनिक प्रसार के लिए लिखी जाती है, जिनमें पाठक की विशेष रुचि नहीं होती। इसलिए कुछ अपवादों को छोड़कर बड़े रचनाकारों ने प्रायः यह साहस नहीं दिखाया।

डॉ. नगेन्द्र को इस बात का श्रेय तो दिया ही जाना चाहिए कि उन्होंने ईमानदारी से यह स्वीकार किया कि यह उनके जीवन की एकपक्षीय कथा है। ज़ाहिर है, इससे व्यक्ति नगेन्द्र के जीवन के अन्तरंग और सर्वथा निजी पक्ष की

जानकारी की उम्मीद नहीं की जा सकती। इसमें मुख्य रूप से उन पाठकों की रुचि होगी, जो स्वातंत्र्योत्तर भारत में हिन्दी के एक मूर्धन्य आलोचक और हिन्दी के उच्चस्तरीय अध्यापन को दिशा देनेवाले नामी और कर्मठ प्रोफ़ेसर के जीवन को, उसके संघर्षों और प्रयत्नों के आलोक में देखना चाहेंगे।

अर्धकथा डॉ. नगेन्द्र के जीवन की विकास-यात्रा की दास्तान तो है, पर उसकी रचना आलोचकीय विवेक से की गयी है। डॉ. नगेन्द्र की व्यावहारिक आलोचनाएँ भी काफ़ी अनुशासनबद्ध हैं। वे अक्सर ऐसी बातों को, जिनसे किसी के आहत होने की सम्भावना हो, या तो कहते नहीं थे या दबे स्वर में कहते थे। स्वभाव में रुक्ष और कठोर दिखाई पड़नेवाले डॉ. नगेन्द्र के लेखन में दृढ़ता तो है, निर्ममता नहीं।

हर लेखक के जीवन के कुछ ऐसे पक्ष होते हैं, जिन्हें वह उजागर नहीं करना चाहता। अपनी आत्मकथा में भी उन्होंने ऐसे प्रसंगों को रहस्य ही बना रहने दिया है। वे उन्हीं बातों की चर्चा करते हैं, जिन्हें प्रकट करने में किसी प्रकार का संकोच न हो और जो किसी अन्य व्यक्ति को आहत न करे। इसमें सरसता दो तरह के प्रसंगों में दिखाई पड़ती है। एक तो वे, जिनमें कुछ स्मृति-चित्र हैं—जो अपनी मार्मिकता में या तो करुण हैं या दिलचस्प।

कारुणिक प्रसंगों में बाबा-दादी का स्मृति चित्र है, जिसे लिखते हुए भी उनकी आखें भींग आती हैं और गला भर जाता है। ऐसी ही करुण स्मृति उनके छोटे भाई के देहावसान की है।

जीवन के विकास-क्रम में परिवार-जनों के बाद, सम्पर्क में आनेवाला दूसरा वर्ग अध्यापकों का होता है। डॉ. नगेन्द्र ने अपने सभी उल्लेखनीय अध्यापकों के प्रभावानुरूप चित्र अंकित किए हैं। सामान्यतः ये चित्र सूचनापरक हैं, किन्तु इनसे उस दौर के विद्यार्थी-शिक्षक सम्बन्धों की प्रकृति की जानकारी के साथ-साथ शिक्षा-व्यवस्था की भी एक झलक मिलती है। इसी बीच वे कुछ रोचक प्रसंग भी प्रस्तुत करते चलते हैं। एक ऐसा रोचक चित्र उन पादरी अध्यापक का है, जिनसे विद्यार्थी नगेन्द्र ने प्रार्थना की थी कि मन की अस्थिरता के कारण पढ़ाई ठीक नहीं हो पा रही है, इसलिए वे बी.ए. की अर्धवार्षिक (अनौपचारिक) परीक्षा से मुक्ति दिलाने की कृपा करें। अध्यापक तुरन्त खड़े हो गये, हाथ से सीने पर क्रास का निशान बनाया और प्रार्थना करने लगे : "हे पिता, इस बालक को शान्ति प्रदान करो, जिससे यह स्थिर चित्त से अपनी परीक्षा दे सके।" और प्रार्थी बालक अपना-सा मुँह लेकर लौट आया।

आकाशवाणी के हिन्दी समाचार विभाग सम्बन्धी कार्यकाल में हिन्दी के गठन की चर्चा रोचक तो है ही, इस अर्थ में ऐतिहासिक महत्त्व की भी है कि ऐसी संस्थाओं में उस समय उर्दू के वर्चस्व के कारण हिन्दी को अपनी जगह बनाने के लिए कैसी कठिन और मनोरंजक स्थितियों से गुज़रना पड़ रहा था। इस दौर का वर्णन करते हुए उन्होंने कवि सुमित्रानन्दन पन्त से सम्बद्ध एक वाक़ये का ज़िक्र किया है, जिससे हिंदी के सुकुमार युवा कवि के व्यक्तित्व की एक झाँकी मिलती है। पन्त जी सलाहकार के रूप में आये तो उनकी निर्दोष कोमल प्रकृति को देखकर तत्कालीन महानिदेशक ने टिप्पणी की थी : 'ही इज़ ए चाइल्ड'।

एक रोचक प्रसंग निराला के बारे में भी—तब जब विद्यार्थी नगेन्द्र महाकवि को आमन्त्रित करने लखनऊ पहुँचे। निराला की वही अलमस्त, औघड़ छटा। कमरे में जैसी-तैसी कुर्सियों पर बैठाने के लिए निराला जी अख़बार बिछाने लगे। कष्ट न करने का अनुरोध किया तो बोले : ''नहीं-नहीं इसमें खटमल हैं, इसलिए काग़ज़ बिछाना ज़रूरी है।' नैश-जागरण करते हुए दोनों आगरा पहुँचे। निराला जी सोकर दोपहर बारह बजे उठे। भोजन तैयार था। उनसे निवृत्त होकर स्नान करने का अनुरोध किया गया तो उन्होंने लापरवाही से उत्तर दिया : 'निवृत्त-विवृत्त क्या होता है? भोजन मँगा लीजिए। फिर ताज देखने चलेंगे।''

डॉ. नगेन्द्र के भीतर लम्बे अन्तराल के बावजूद कवि नगेन्द्र की सर्जनात्मकता बनी रही। अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों पर टिप्पणी करते हुए वे चुटकी लेने से नहीं चूकते। पर सावधानी के साथ। व्यावसायिक जीवन में उनका सम्पर्क तरह-तरह के लोगों से पड़ा। उनमें से बहुत से यह कथा लिखते समय स्मृति-शेष रह गये थे। जो यादगार भर रह गया हो, उसके साथ हुए सुखद अनुभवों को व्यक्ति कृतज्ञता-भाव से खुलकर कह सकता है, पर यदि इनमें कड़वाहट का कुछ अंश हो, तो औचित्य-बोध आड़े आने लगता है। ऐसी अनुभूति को डॉ. नगेन्द्र कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं : 'ख़ुदा बख़्शे बहुत-सी ख़ूबियाँ थीं मरनेवालों में'।

उनकी परिहास वृत्ति की झलकियाँ भी इस कथा में आरम्भ से ही मिलने लगती हैं। उन्होंने अपने वंश का परिचय देते हुए पहले 'नगाइच' के अर्थ का खुलासा किया : 'नगाइच' यानी 'नागादित्य'। फिर इस सम्बन्ध में प्रचलित प्रवाद का : 'प्रवाद प्रचलित है, नाग नगाइचों का कुल-देवता है, उन्हें डसता नहीं'। अन्त में व्यंगात्मक शैली में जोड़ा, ''सच-झूठ कौन जाने? किसी ने ठीक चुटकी ली; 'डसेगा कैसे, वह ख़ुद न मर जाएगा?''

इसी शैली में उन्होंने नाम का इतिहास प्रस्तुत किया, जो आरम्भ में नागेन्द्र सिंह था, फिर कुछ समय नागेन्द्र प्रसाद रहा, कक्षा चार के अध्यापक ने नागेन्द्र कुमार कर दिया। हाईस्कूल में उपाधिमुक्त नागेन्द्र रह गया, और आज मात्र नगेन्द्र है। इस तरह के प्रसंग और भी हैं, जहाँ उनकी विनोद-वृत्ति के साथ-साथ शैली में भी व्यंग और वक्रता आ गयी है। पर निरामिष ढंग की, शालीनता की ऐसी हदबन्दी के भीतर, जिससे न उनकी छवि और प्रतिष्ठा पर कोई आँच आए और न ही औरों पर। साथ ही जो किसी को कम-से-कम चोट न पहुँचाए।

डॉ. नगेन्द्र में अद्‌भुत प्रशासनिक क्षमता थी, जिसका परिचय उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में 1952 से 1970 के बीच दिया। अपने कार्यकाल में उन्होंने अनेक संस्थाओं की स्थापना की और तरह-तरह के आयोजन किए। कॉलेजों से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा-व्यवस्था तक उनकी भूमिका निर्णायक रही। दिल्ली उनके कार्यकाल के दौरान, अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी-शिक्षा का केन्द्र हो गयी। वे पाठ्यक्रम-निर्माण और नियुक्तियों से लेकर, नीतिगत निर्णयों के लिए ज़िम्मेदार तमाम सरकारी समितियों के सदस्य थे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की हिन्दी-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण समितियों में उनकी राय का वज़न होता था। बीसवीं शताब्दी के इस मध्यकाल में हिन्दी-जगत की तमाम गतिविधियों का जायज़ा उनकी इस *अर्धकथा* से लिया जा सकता है। उन्होंने विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्चतर शिक्षा की स्थिति के बारे में एक पूरा अध्याय लिखा है। इसमें उन्होंने रामचन्द्र शुक्ल और केशवप्रसाद मिश्र जैसे वरिष्ठ आचार्यों के साथ अपने अग्रजतुल्य समकालीन आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के पांडित्य की, श्यामसुन्दर दास और धीरेन्द्र वर्मा की प्रशासनिक क्षमताओं की, दीनदयालु गुप्त के सौहार्द्र और सौजन्य की बड़ी सहृदयता से सराहना की है।

ये लोग उनके समकालीन थे। अपने-अपने कार्य क्षेत्र में इन्हें यश और सफलता भी मिली। डॉ. नगेन्द्र ने बड़ी उदारता और आदर भाव से इनका स्मरण किया, प्रतिस्पर्धी भाव से नहीं। मित्रों-परिचितों के बारे में वे गुणग्राही थे, इसका अन्दाज़ उनकी इस *अर्धकथा* से बराबर होता है।

डॉ. नगेन्द्र के जीवन में बड़े संघर्ष नहीं आए। किसी औसत मध्यवर्गीय नागरिक के जीवन में आमतौर पर जैसे सुखद-दुःखद प्रसंग आते हैं, उससे न ज़्यादा न कम। कुल मिलाकर उनका जीवन एक सफल व्यक्ति का जीवन ही कहा जा सकता है। ऐसे में उन दुःखद प्रसंगों की चर्चा आते ही जिनकी ज़िम्मेदारी

ख़ुद उनकी रही होगी, वे प्रायः या तो उनसे कतराकर निकल जाते हैं, या फिर उनका कारण बाहरी व्यक्तियों और परिस्थितियों में खोजकर सन्तोष पाना चाहते हैं। चेतना के बिम्ब में उनका इस आशय का एक वाक्य है ,"मैंने अपनी आन्तरिक चेतना को अपने आप से सम्बोधन दिया है।" (शिकायत है नगेन्द्र को डॉ. नगेन्द्र से) परन्तु दुःखद प्रसंगों की बात करते हुए, वे अपने आपको सम्बोधित न करके जैसे किसी दूसरे की (पाठक की) निराकार उपस्थिति के बारे में सतर्क हो जाते हैं और दुःखद स्थितियों में अपनी भूमिका (या भूल) को स्वीकार करने के बजाय सफ़ाई-जैसी देकर, सुरक्षा-कवच गढ़ने की कोशिश करते हैं, आत्मकथा तो एक प्रकार का 'आत्मस्वीकार' होती है, अतः आत्मपरीक्षण का अवसर प्रदान करती है। आत्मपरीक्षण तभी सार्थक होता है, जब वह लगभग तटस्थ और अनासक्त भाव से किया जाए—'निजता' से अलग खड़े होकर। डॉ. नगेन्द्र के पास स्मृतियों का 'संचित कोश' है। *अर्धकथा* का समाहार करते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि 'इस कालपात्र में राग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ-परार्थ, सद्भाव और क्षुद्रता, साहस और कायरता, विनय और दम्भ के न जाने कितने अभिलेख अस्त-व्यस्त पड़े हैं। मेरी स्मृति अब भी इतनी सजग है कि विशेष आयास के बिना मैं उन्हें सहज ही क्रमबद्ध कर सकता हूँ। किन्तु उसकी कोई सार्थकता नहीं है, क्योंकि दूसरों के लिए उनका क्या मूल्य, और मेरे लिए भी उन सभी की सार्थकता आज क्या रह गयी है? इसके बाद उन्होंने उन अनुभूतियों की चर्चा की है, जिन्हें वे अपने जीवन की अमूल्य सम्पत्ति मानते हैं, उनके बारे में उनका कहना है कि "उन्हें मैंने अन्तर्मन की रत्न-मंजूषा में बन्द कर इस कालपात्र के केन्द्र में रख दिया है।"

ऐसी अनुभूतियाँ, जो उनके 'जीवन की अमूल्य सम्पत्ति' हैं, 'अन्तर्मन की रत्न मंजूषा में सहेज कर कालपात्र' के हवाले कर दी गयी हैं। जो बचा रहा है, वही *अर्धकथा* में पाठकों के सामने है—कुछ तथ्य, कुछ घटनाएँ, वे पारिवारिक और सामाजिक प्रसंग जिनके कह देने से न उनकी अपनी छवि पर कोई आँच आती है, न किसी दूसरे की। उन्हीं के शब्दों में रोग-शोक की किसी असामान्य घटना से रहित 'प्रायः सुख-सरल सामाजिक जीवन' बितानेवाले वे ऐसे व्यक्ति हैं, जिसे न किसी महत्त्वाकांक्षा की अपूर्ति सालती है, न ही किसी नैतिक अपराध की अनुभूति पाप-ग्रन्थि बनकर उनके अवचेतन में समा गयी है। तब वे बार-बार शेक्सपीयर के ऐंटोनियों की तरह क्यों यही सोचकर रह जाते हैं : "मेरी समझ में नहीं आ रहा कि मैं इस प्रकार उदास क्यों हूँ।" वे स्वयं ही नहीं, *अर्धकथा*

का पाठक भी इस 'क्यों' का उत्तर कथा के भीतर से ही पाना चाहता है। उनका अन्तिम वाक्य "निरन्तर कर्मशृंखला और स्नेही बंधु-बांधवों से घिरा हुआ अपने एकान्त क्षणों में मैं निपट एकाकी रहा हूँ।" एक ऐसे जीवनव्यापी शून्य की तरफ़ संकेत करता है, जिसके कारणों की कोई जानकारी यह *अर्धकथा* नहीं देती। यह डॉ. नगेन्द्र के बहिरंग जीवन का जो ख़ाका पेश करती है, उसके आधार पर इसे उनके जीवन की अधूरी कथा ही कहा जा सकता है।

□

11

स्मृति-चित्र

जिन व्यक्तियों ने डॉ. नगेन्द्र के जीवन को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया, उनमें से कुछ को उन्होंने समय-समय पर लेखनी का विषय बनाया। ये स्मृतियाँ *चेतना के बिम्ब* शीर्षक से पुस्तकाकार संकलित है। पुस्तक के 'निवेदन' में उन्होंने कहा कि इनमें रेखाचित्र और संस्मरण दोनों के शिल्प का सामंजस्य है। साथ ही यह भी कि "प्रत्येक रचना एक प्रकार से मेरी साहित्यिक श्रद्धांजलि का अभिलेख है, जिसमें बुद्धि ने प्रायः भावना के अनुशासन में रहकर काम किया है।"

रचनाकार के इस वक्तव्य के अलावा इन स्मृति-बिम्बों की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जो ध्यान आकर्षित करती हैं। संकलन के दस लेखों में से अन्तिम दो का विषय रचनाकार स्वयं है। एक का शीर्षक है 'मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन' और दूसरे का 'आत्म-विश्लेषण' (शिकायत है नगेन्द्र को डॉ. नगेन्द्र से)। शेष आठों लेख श्रद्धास्पद व्यक्तियों से सम्बद्ध हैं, जिनमें राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अलावा तीन वरिष्ठ कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा शामिल हैं। शेष दो भी उनकी श्रद्धा के ही पात्र हैं। सेण्ट जॉन्स कॉलेज में उनके अंग्रेज़ी के शिक्षक प्रोफ़ेसर सी.वी. महाजन और मेरठ निवासिनी होमवती देवी, जिनकी 'पर्णकुटी' समसामयिक साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र थी। वे स्वयं कहानियाँ लिखती थीं। इस मध्यवर्गीय गृहस्थिन महिला की स्थिति अपने समय के युवा रचनाकारों के बीच 'बीबी' यानी बड़ी बहिन की सी थी। डॉ. नगेन्द्र के अलावा अन्य समकालीनों ने, विशेषकर अज्ञेय ने भी उन्हें बड़े स्नेह-सम्मान से स्मरण किया है।

डॉ. नगेन्द्र ने इन स्मृति-चित्रों के बारे में सही कहा है कि ये उनकी 'साहित्यिक श्रद्धांजलि का अभिलेख है।' इनमें पाठक उस उन्मुक्त चित्रण की अपेक्षा कर ही नहीं सकता, जो समवर्गी मित्रों या समाज में कमतर हैसियत रखनेवालों के बारे में लिखते हुए दिखाई पड़ती है। उनके पात्र आयु में, पद-प्रतिष्ठा में उनसे

बड़े हैं, सम्मानित व्यक्ति हैं, उनके लिए आदर के पात्र हैं, यह एहसास इन स्मृति-चित्रों की रचना करते हुए बराबर बना रहा है—अपने 'विषय' की महानता से अभिभूत होने का बोध। 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त' शीर्षक के साथ एक कोष्ठक है : (दद्दा : महान व्यक्तित्व) और आलेख का पहला वाक्य है, "दद्दा निश्चय ही महान व्यक्ति थे—प्रायः उसी अर्थ में और उसी अनुपात में, जिसमें कि मैथिलीशरण गुप्त महान कवि थे।"

महादेवी वर्मा उनके लिए 'श्रीमती महादेवी वर्मा' है—एक आदरमय औपचारिक शीर्षक। उनसे पहली भेंट के बारे में लेखक का कहना है, "महादेवी जी के दर्शन मैंने पहली बार शायद 1939-40 के आसपास किए।" कहने का तात्पर्य यह कि जिन व्यक्तियों के प्रति लेखक इतने अधिक श्रद्धा भाव से अभिभूत हो, उनके व्यक्ति-चित्र औपचारिक दूरी बनाए रखकर ही अंकित किए जा सकते हैं। आत्मीयता होने पर भी, ऐसे पात्रों के सन्दर्भ में एक सीमा-रेखा के भीतर रहकर ही लेखनी सक्रिय हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में 'बुद्धि भावना के अनुशासन में रहकर' काम नहीं करती, बल्कि भावना औचित्य-बोध से अनुशासित होकर काम करने लगती है। एक बात और है, जिससे इन स्मृति-चित्रों का स्वर नियन्त्रित हुआ है। इन आठ स्मृति-चित्रों में से पाँच का सन्दर्भ इन आत्मीयजनों का स्वर्गवासी हो जाना है। होमवती देवी, सियारामशरण गुप्त, प्रोफ़ेसर सी.वी. महाजन, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', मैथिलीशरण गुप्त सम्बन्धी अभिलेख—मरणोपरान्त लिखी गयी श्रद्धांजलियाँ हैं। ऐसे अवसर पर न जानेवाले की कमज़ोरियाँ याद रहती हैं, न ही उससे जुड़े अप्रिय अनुभव। जीवन में शायद ही कोई सम्बन्ध ऐसा एकसार निभाया जाता हो, जैसी ऐसे अवसरों पर प्रतीति होने लगती है। नतीजतन ऐसे अभिलेख संस्मरण के रूप में भावभीनी श्रद्धांजलि से अधिक कुछ नहीं होते, जिनमें व्यक्ति का एकांगी चित्र ही सामने आता है। औपचारिक अवसरों से प्रेरित संस्मरणों में प्रायः अवसर का तक़ाजा हावी हो जाता है, और व्यक्ति की तस्वीर उसी के अनुरूप ढलकर सामने आती हैं

रेखाचित्रों में व्यक्ति की प्रकृति के साथ आकृति-चित्र भी बनता है। जिन्होंने डॉ. नगेन्द्र के इन स्मृति-चित्रों के पात्रों के देखा है, वे भली-भाँति जानते हैं कि इनके रूपाकार को शब्दों में बाँधने की कितनी गुंजाइश थी। पन्त जी की ठेठ रोमानी कवि की छवि, नवीन जी का बाँकपन, महादेवी का साध्वी-वेश, दद्दा की मझोले क़द की खद्दरधारी काठी, गले में कंठी, जिसमें वे कवि कम कांग्रेसी कार्यकर्ता अधिक लगते थे और सियारामशरण गुप्त, जो मौन बैठे हों तो निपट देहाती किसान

से ज़्यादा कुछ न लगें। सब एक-दूसरे से एकदम भिन्न और विशिष्ट। सबके बीच (पन्त जी को छोड़कर) एक समानता थी—खादी-प्रेम, जो स्वाधीनता आन्दोलन और गाँधीवाद के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को प्रकट करता था।

नगेन्द्र जी के इन स्मृति-चित्रों में रेखाचित्र निर्मित करने की यह कला, जिसका अनुपम उदाहरण महादेवी वर्मा की रचनाएँ हैं, एकदम अनुपस्थित हैं। वे इन पात्रों के सामने बड़े विनय भाव से उपस्थित होते हैं। उनका ध्यान आकृति से ज़्यादा प्रकृति पर, उसमें भी गुणों, पर, व्यक्तित्व की प्रभावी विशेषताओं पर टिका रहता है, जिन्हें वे बड़ी संयत और सधी क़लम से उजागर करते चलते हैं।

ऐसा नहीं है कि डॉ. नगेन्द्र के पास रूपगत विशिष्टताओं को पहचानने की सामर्थ्य न हो। जहाँ उन्होंने यह छूट ली है, वहाँ पर्यवेक्षण और चित्रण दोनों बड़ी बारीकी से किए हैं। ऐसा एक प्रसंग 'दादा-स्वर्गीय पं. बालकृष्ण शर्मा नवीन' को याद करते हुए आया है। स्थिति में प्रवेश तो वहाँ भी वे विनयपूर्वक करते हैं, 'व्यक्ति-दर्शन' के लिए, पर उसके बाद जो घटित होता है, उसमें एक नहीं अनेक कवि-व्यक्तित्व अपने-अपने वैशिष्ट्य के साथ समुपस्थित हो जाते हैं :

"अपने सचेत आलोचक मन में कुछ इसी प्रकार की धारणाएँ लेकर मैं अलमस्त यौवन के उस कवि का व्यक्ति-दर्शन करने गया। उस समय तक मैं पन्त के अन्तर्बाह्य-एक सौम्य-मधुर व्यक्तित्व के कोमल सम्पर्क में आ चुका था, निराला की मुक्ताकुंतला विराट् पुरुष मूर्ति के अभिभूत करनेवाले प्रभाव को आत्मसात् कर चुका था, महादेवी की कविता के रसभीने रंगों और उनके व्यक्तित्व एवं वेशभूषा की सादगी के बीच सामंजस्य स्थापित कर चुका था, अपनी सहज सामान्यता में असामान्य गुप्त-बंधुओं के व्यक्ति-भेद को मन और बुद्धि की आँखों से अलग-अलग कर देख चुका था। पर आज मैं इन सबसे भिन्न कवि के सामने बैठा था। इस कवि की शरीर-सम्पत्ति आकर्षक थी, उसे देखकर अनायास ही *कामायनी* की पंक्तियों का स्मरण हो आया :

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।

ऐसा नहीं था कि वे अपनी इस शरीर-संपत्ति से अवगत न हों—किन्तु उनके मन की मस्ती इतनी प्रबल थी कि सचेत होने पर भी वे उसके प्रति विशेष ध्यान देने में असमर्थ थे। उनके शुभ्र अलक-जाल की सँवारी हुई बंकिमा, जहाँ इस बात का आभास देती थी कि वह स्वरति की भावना से मुक्त नहीं है, वहाँ उनका घुटनों तक का जांघिया इस रहस्य का उद्‌घाटन कर रहा था कि अन्ततः जीत

उनके फक्कड़पन की ही होती है। सुरुचि के अलंकारों से वे अपरिचित नहीं हैं, परन्तु मस्ती का सुख उन्हें उन सबकी उपेक्षा के लिए लाचार कर देता है। उनके व्यक्तित्व में सामान्यता नहीं थी, किन्तु सहजता भरपूर थी।

डॉ. नगेन्द्र के स्मृति-चित्रों में सम्भवतः यह अकेला प्रसंग है, जिसमें रेखाचित्र की शैली में व्यक्ति की आकृति और प्रकृति समवेत् रूप में उभरकर सामने आयी है। शायद इसका कारण नवीन जी के व्यक्तित्व का अलमस्त फक्कड़पन है, जिसने कवि और आलोचक के बीच की सम्भावित दूरी को पाट दिया है। नवीन जी के बहाने उन्होंने गुप्त-बंधुओं और छायावादी कवियों की रूप-छटा को भी कुछ हद तक शब्दों में बाँध लिया है। वर्ना उनके प्रति आदर भाव डॉ. नगेन्द्र को यह इजाज़त नहीं देता कि वह अपने पात्रों के रूप-चित्र, शब्द-रेखाओं में बाँधने की छूट ले सकें।

इन पात्रों के व्यक्तित्व की गरिमा और महानता का लेखक के मन पर कितना आतंक था, इसके लिए राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद सम्बन्धी अभिलेख का एक उदाहरण पर्याप्त होगा, ''इसके पूर्व मैं अनेक बार उनके दर्शन कर चुका था—एक बार तो उनके बिलकुल पास खड़े होने का सौभाग्य भी मुझे मिल चुका था, जिसे मेरा किशोर मन वर्षों तक अपने जीवन की अमूल्य थाती के रूप में आग्रह के साथ सँजोये रहा।''

कहना न होगा कि यह लेख राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के राष्ट्रपति पद से विदा लेने के पाँच वर्ष बाद 1967 ई. में लिखा गया था। इसलिए उस समय न उनके राजनीतिक प्रताप से आक्रान्त होने का प्रश्न था और न डॉ. नगेन्द्र में साहस की कमी थी। इसी लेख में उन्होंने राजेन्द्र बाबू की *आत्मकथा* की समीक्षा के बारे में लिखा है, ''मुझे लगा कि उस आत्मकथा में आत्म का पक्ष जैसे उपेक्षित ही रह गया हो। उसमें आत्म के आस्वाद का तो प्रायः अभाव ही था—लेखक ने अपने अहंकार को इतना विगलित कर दिया था कि बार-बार अवसर आने पर भी, वह उसके उपयोग से अनायास ही विमुख हो जाता था; मन की ग्रन्थियों को सुलझाकर आत्म का अनुसंधान करने की व्यग्रता भी उसमें कहीं नहीं मिली, लगता था, जैसे लेखक कहीं अपने में डूबता ही नहीं है।... मेरी यह धारणा बन गयी है कि नैतिक मूल्य चाहे इनका कुछ भी हो, इस प्रकार की ऋजुता और सारल्य साहित्य की समृद्धि में अधिक योगदान नहीं कर पाते।''

राजेन्द्र बाबू की *आत्मकथा* के बारे में अपनी इस प्रतिक्रिया को डॉ. नगेन्द्र ने उनके राष्ट्रपति पद पर आसीन रहते हुए ही 'पूरी ईमानदारी के साथ लेखबद्ध'

कर दिया था। यानी वे साहस की कमी के कारण नहीं, अपने पात्रों के प्रति सम्मान-भाव के कारण, उनकी दुर्बलताओं को अनदेखा करके ही उन्हें स्मरण करते रहे।

कुल मिलाकर, इन स्मृति-लेखों में रेखाचित्र की शैली का उपयोग विशेष उल्लेखनीय नहीं है। इनमें पात्रों का स्वरूप घटनाओं और प्रसंगों के सहारे उभरता है। उदाहरण के लिए, कवि पन्त को केवल उनके रेडियो में आगमन की घटना के आधार पर स्मरण किया गया है। अन्य पात्रों के संस्मरण अपेक्षाकृत अधिक भरे-पूरे हैं। उनमें एकाधिक जीवन-प्रसंग हैं। कवि सियारामशरण की स्मृति अपनी कारुणिकता में मार्मिक है और होमवती देवी को आत्मीय कृतज्ञता भाव से याद किया गया है। परन्तु सम्मान भावना से पैदा होनेवाली औपचारिकता के कारण इन स्मृति-लेखकों में वह अनौपचारिक स्फूर्ति और ऊर्जा नहीं है जिसकी संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में आमतौर से उम्मीद की जाती है। सतर्क भाषा, शालीनता और मर्यादा के निर्वाह की सावधानी, पात्रों के प्रति सम्मानजन्य औपचारिक दूरी के साथ आत्मीयता का बोध, सब मिल जुलकर इन स्मृति-चित्रों में एक ऐसी गम्भीर मुद्रा की सृष्टि करते हैं, जिसके कारण लेखक की विनोद वृत्ति, अवसर मिलने पर भी संकोच के कारण प्रायः दबी रह जाती है।

चेतना के बिम्ब के अन्तिम दो लेख, रचनाकार के अपने अतीत का पुनःस्मरण है। इनमें से पहले निबन्ध में उन्होंने अपने व्यावसायिक जीवन और साहित्य-सृजन के बीच सम्बन्ध की व्याख्या की है। शायद उनके मन में यह सवाल उठता रहा होगा कि सरकारी नौकरी या अध्यापन-वृत्ति साहित्य (जिसमें आलोचना भी शामिल है) के सृजन में कहाँ तक और किस रूप में साधक या बाधक होती है। उनका निष्कर्ष है कि आकाशवाणी की राजकीय सेवा 'राष्ट्रीय महत्त्व के रचनात्मक कार्य' में लगे रहने पर भी साहित्य सृजन के लिए विशेष अनुकूल नहीं पड़ती थी। वे रचनात्मक साहित्य और सृजनात्मक साहित्य में अन्तर करते हैं, "लोक सेवा के महदनुष्ठान से कुछ समय बचाकर मैंने नैतिक संकल्प के साथ साहित्य-साधना आरम्भ कर दी थी और सरस्वती सर्वथा मूक नहीं हुई थी; फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि दफ़्तरी शिकंजे में मेरी अन्तर्वृत्तियाँ कसती जा रही हैं और लीक पर पड़ा हुआ जीवन तेली का बैल बनता जा रहा है।" उन्होंने इस सरकारी शिकंजे से रस्सा तुड़ाया तो पीछे मुड़कर नहीं देखा।

डॉ. नगेन्द्र उच्च स्तर के अध्यापन के साथ आलोचना का 'प्रत्यक्ष सम्बन्ध' मानते हैं। इस लेख में उन्होंने इस सम्बन्ध की प्रकृति पर विस्तार से विचार किया

है। उनका कहना है कि ऐसे साहित्य-रूपों के लिए "जो कदाचित् अधिक अनुभव-विस्तार तथा गहरे जीवन-मंथन की अपेक्षा करते हैं—आलोचना और अध्यापन का उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध है।" तरह-तरह के तर्क देकर उन्होंने अपने इस मन्तव्य को पुष्ट किया है। विश्वविद्यालयों में पनपनेवाली 'अध्यापकीय' या 'एकेडेमिक आलोचना' से अक्सर साहित्यकारों को जड़ता और समय से पिछड़े होने की जो शिकायत रहती है, डॉ. नगेन्द्र उससे सहमत नहीं हैं। यह बात अलग है कि उन्होंने अध्यापन-वृत्ति से आलोचना के लिए पैदा होनेवाले ख़तरों के विरुद्ध सावधान भी किया है और अन्त में यह उपदेश भी दिया है कि 'अध्यापक-आलोचक को इन बाधाओं के प्रति अत्यन्त सशंक रहना चाहिए'—पर वे इन दोनों कर्मों में कोई सहज विरोध नहीं मानते।

इस संग्रह का सबसे प्रभावी लेख है—'आत्मविश्लेषण' (शिकायत है नगेन्द्र को डॉ. नगेन्द्र से)। जैसा शीर्षक से स्पष्ट है यह लेख सही अर्थ में लेखक का ईमानदार आत्मविश्लेषण यानी आत्मस्वीकृति है, जिसमें बड़े बेबाक ढंग से उन्होंने अपनी कमज़ोरियों का चिट्ठा खोला है। नगेन्द्र ने बड़े उन्मुक्त भाव से डॉ. नगेन्द्र के प्रति अपनी शिकायतों का ब्यौरा दर्ज किया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस छोटे से लेख में डॉ. नगेन्द्र की सारी कमज़ोरियों से पाठक परिचित हो जाता है। उन्होंने स्वयं भी लेख का अन्त यह कहते हुए किया है कि 'अभी कुछ और भी तीर मेरे तरकश में हैं, पर उनका प्रयोग मैं आज नहीं करूँगा।' पर डॉ. नगेन्द्र से वास्तविक जीवन में जिनका परिचय रहा है, वे इस बात से इनकार नहीं कर सकेंगे कि उन्होंने बड़ी ईमानदारी से, दो टूक भाषा में निर्मम होकर अपने को परखा और आत्मस्वीकृति की मुद्रा में पाठक के लिए पेश कर दिया है। यह लेख इस बात का प्रमाण है कि उनके पास विषय का पूरी वस्तुनिष्ठता और उन्मुक्तता से तटस्थ विश्लेषण करने की दृष्टि और कौशल दोनों मौजूद थे पर अपने से वय और पद-प्रतिष्ठा में बड़े और सम्मानित व्यक्तियों के सन्दर्भ में लिखते हुए नैतिक बोधजन्य शील बाधक हो जाता था।

□

12

यात्रावृत्त

संस्मरण की शैली में डॉ. नगेन्द्र ने अपनी विदेश-यात्राओं का वृत्तान्त भी लिखा है। इस क्रम में पहला संकलन *तंत्रालोक से यंत्रालोक* तक 1968 ई. में प्रकाशित हुआ, और दूसरा *अप्रवासी की यात्राएँ* 1971 ई. में। उन्होंने इन दोनों में एक बारीक अन्तर किया है। पहले संकलन के लेखों के बारे में उनका कहना है कि ''मैंने इन निबन्धों को यात्रा-लेख न कहकर यात्रा-संस्मरण कहा है।'' इनमें लेखक की दृष्टि प्रयत्न करने पर भी वस्तुनिष्ठ नहीं बन पायी। यात्रा-लेख और यात्रा-संस्मरण में उनके अनुसार स्पष्ट अन्तर यह है कि ''पहले का यथार्थ जहाँ प्रायः वस्तुनिष्ठ रहता है, वहाँ दूसरे का यथार्थ अनायास की कल्पनारंजित हो जाता है।'' पहले संकलन के निबन्धों में वे 'यथार्थ का दर्शन और वर्णन आत्म-निर्लिप्त होकर नहीं कर पाए, यही दूसरे संकलन के निबन्धों से उनमें अन्तर है। उनके वक्तव्य को प्रमाण मानें तो पहले संकलन में यथार्थ का कल्पनारंजित वर्णन है और दूसरे में अनुभव-प्रेरित वैचारिकता।

ये यात्रा-वृत्त इस दृष्टि से दिलचस्प हैं कि जिस समय इनकी रचना हुई, उस समय तक औपनिवेशिक मानसिकता से लैस भारतीयों की दृष्टि में विदेश यात्रा का बड़ा महात्म्य था—हिन्दीवालों के लिए तो और भी अधिक। यह सौभाग्य उस समय तक विरलों को ही प्राप्त हो पाता था। ज़ाहिर है डॉ. नगेन्द्र ने ये आरम्भिक यात्राएँ महत्व और आश्चर्य की मिली-जुली अनुभूति के साथ सम्पन्न की। इस क्रम में उनकी पहली यात्रा काठमांडू तक ही थी, पर उन्हीं के शब्दों में, ''फिर भी विदेश तो विदेश ही है।'' इसलिए वेशभूषा से प्रस्थान तक, परिवारजनों और इष्ट-मित्रों ने यात्रा की तैयारी जिस पैमाने पर की, उसके ब्यौरे आज हास्यास्पद प्रतीत हो सकते हैं, पर ये वर्णन विदेश-यात्राओं के प्रति उस पीढ़ी के मनोभाव का रोचक विवरण प्रस्तुत करते हैं। इस मानसिकता की ओर डॉ. नगेन्द्र ने भी संकेत किया है, ''विदेशी-यात्रा वर्तमान जीवन का विशेष आकर्षण और आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व का आवश्यक अलंकार है।''

हिमालय के ऊपर उड़ते हुए भारत की असंख्य पुराकथाओं के साथ कालिदास, प्रसाद, पन्त और दिनकर के अनेक काव्य-बिम्ब उनकी चेतना में 'अनायास ही उद्‌बुद्ध होने लगे।' स्वभावतः उन्होंने तदनुरूप पदावली में उस दृश्य को शब्दबद्ध किया, "शुभ्र-शान्ति में समाधिस्थ, शाश्वत सौन्दर्य के प्रतीक उस पुंजीभूत आनन्द को देखकर कवि पन्त की कल्पना के समान मेरी कल्पना भी महाश्चर्य में डूब गयी और *कुमारसम्भव* के उदात्त-कोमल प्रसंग चलचित्रों के समान मेरे मन में घूमने लगे।" खिली धूप में हिमाच्छादित पर्वत-शृंखला पर विमान की छाया डॉ. नगेन्द्र की कवि-कल्पना में कुछ ऐसे अप्रस्तुत-विधान के साथ उभरती है, "जैसे किसी देव-मन्दिर के रजत-शिखर पर छोटा-सा पतंगा मंडरा रहा हो।"

पर ऐसी कवित्वपूर्ण भाषा में रचित प्रसंग एकाध ही हैं। किसी दर्शनीय स्थान का वर्णन पूर्णतः आत्म-निर्लिप्त होकर तो किया ही नहीं जा सकता, विशेषकर जब वर्णन करनेवाला सहित्य का अध्येता-आलोचक हो। परन्तु कहीं-कहीं नितान्त वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को छोड़कर, सामान्यतः इनमें यात्रा के विवरणात्मक ब्यौरे ही अधिक हैं। ये वर्णन एक ढाँचे में बँधे हैं—हवाई अड्डे, वायुयानों की बनावट, यात्रा की दूरी, यात्रा के दौरान होनेवाली सुविधा-असुविधा का लेखा-जोखा, गन्तव्य पर पहुँचकर वहाँ की स्वागत-सत्कार सम्बन्धी औपचारिकताएँ, होटलों की व्यवस्था का विस्तृत ब्यौरा, जिसमें लिफ़्ट, मंजिल, कमरा नं. और स्वभावतः खान-पान की विशेषताएँ शामिल हैं। साथ ही नगर-भ्रमण के अनुभव, वहाँ के अधिकारियों से औपचारिक भेंट-वार्ताएँ, सम्मान में आयोजित समारोहों के विवरण और अन्त में स्वदेश की वापसी।

जब विदेश-यात्राएँ आम बात नहीं थी, तब पाठकों के लिए ऐसे वर्णन बड़े रोमांचक रहे होंगे। वर्तमान स्थिति में, जिन्हें स्वयं ऐसी यात्राओं का सौभाग्य सुलभ नहीं होता, उनके लिए भी दूरदर्शन ने तमाम सूचनाधर्मी कार्यक्रमों के माध्यम से सचमुच विश्व को विश्वग्राम में बदल दिया है। अब ऐसे पाठकों की संख्या बहुत कम रह गयी है, जिनके लिए शब्दों के सहारे इन अनुभवों के काल्पनिक बिम्ब खड़े करने का उद्यम करने की आवश्यकता हो। सिनेमा, सीरियल, विज्ञापन जैसे माध्यमों से पूरे विश्व का नज़ारा देख लेने के बाद ऐसे यात्रा-वृत्त, जब तक उनमें आत्म-तत्त्व प्रबल न हो, विशेष रुचि नहीं जगाते। अपने रचनाकाल में हो सकता है, इन्होंने कौतूहल-मिश्रित जिज्ञासा के परितोष की भूमिका निभायी हो, पर समय के साथ वह भाव निःशेष ही हो गया है। जहाँ लेखक ने दृश्यों के

प्रति अपनी सर्वथा निजी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की है, वे अंश अवश्य प्रभावी बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए मास्को को देखकर उनकी यह प्रतिक्रिया, ''मास्को के इस विराट परिदृश्य को देखकर यह लगता था, जैसे मेरे अपने व्यक्तित्व का विस्तार हो रहा है–यह अनुभव कुछ ऐसा ही था, जैसा हिमालय या समुद्र के अनन्त प्रसार को देखकर होता है। केवल एक ही भेद था–प्रकृति के ऐश्वर्य के माध्यम से जहाँ परोक्ष सत्ता के विराट् रूप का आभास होता है, वहाँ इस नगर के वैभव को देखकर मानव के असीम गौरव का प्रभाव मन पर पड़ता है।''

ऐसे गिनती के प्रसंगों को छोड़कर, ये वृत्तान्त प्रायः एक ही ढाँचे में यात्रा के आरम्भ से अन्त तक, मार्ग में आने वाले स्थलों, व्यक्तियों, आयोजनों आदि के इतने ब्यौरेवार दृश्य प्रस्तुत करते हैं, कि इन्हें पढ़ने के दौरान लगभग लेखक के सहयात्री होने का एहसास होने लगता है। यही इनकी सफलता है।

अप्रवासी की यात्राएँ में संकलित लेखों के बारे में डॉ. नगेन्द्र ने आमुख में लिखा है, ''इनकी रचना मैंने एक नवीन विधा के साथ प्रयोग करने के लिए नहीं की। अपनी विदेश-यात्राओं के अनेक रोचक और ज्ञानप्रद स्मृति संस्कारों को सुरक्षित रखना ही मेरा सामान्य लक्ष्य रहा है। इनमें से अधिकांश यात्राओं का उद्देश्य शैक्षिक था, अतः प्रस्तुत लेखों में स्मृति-चित्रों के साथ-साथ विचार-विवेचन का क्रम भी बराबर बना हुआ है।'' उनका यह कहना सही है कि इन यात्रा-लेखों की रचना विधागत प्रयोग की दृष्टि से नहीं की गयी। विषयवस्तु या शैली, में कहीं कोई ऐसी असामान्य विशेषता लक्षित नहीं होती, जिससे उनकी अन्य गद्य-रचनाओं से इनमें कोई मौलिक अन्तर दिखाई पड़ता हो। आरम्भ से अन्त तक हर यात्रा का उसी ढाँचे में बँधा ब्यौरा, जिसका निर्वाह उन्होंने *तंत्रालोक से यंत्रालोक तक* में संकलित यात्रा-लेखों में किया है, यहाँ भी विद्यमान है।

इन यात्रा-लेखों की भिन्नता इस बात में है कि इनमें उनकी निजी प्रतिक्रियाएँ अधिक मुखर रूप से दर्ज की गयी हैं। वस्तुतः यात्रा के दौरान आनेवाले पड़ावों, स्थानों, घटनाओं और आयोजनों के बारे में उनकी टिप्पणियों से जानकारी तो मिलती ही है, विषय के प्रति उनके आलोचनात्मक विवेक से भी परिचय होता चलता है। पेरिस के लुब्रे संग्रहालय में सुरक्षित लिओनार्द द विंची की विश्वविख्यात अमर रचना मोनालिसा के चित्र के बारे में उनकी टिप्पणी इसका प्रमाण है। उसकी ख्याति से अनाक्रान्त रहकर वे उसका मूल्यांकन बड़ी संयत भाषा में इस प्रकार करते हैं, ''उसे देखकर सामान्य दर्शक की प्रतिक्रिया वैसी तीव्र नहीं होती, जैसी कि होनी चाहिए। उसकी प्रशंसा सुनकर दर्शक के मन में जो सम्भावनाएँ या

कल्पनाएँ जगती हैं, उनकी पूर्ति चित्र के साक्षात् दर्शन से नहीं हो पाती। ताजमहल को भी पहली बार देखकर मेरे मन में कुछ ऐसी ही प्रतिक्रिया हुई थी। मोनालिसा के चित्र को देखकर मुझे अनायास ही दो प्रसंगों का स्मरण हो आया : "एक तो फ्रायड द्वारा प्रस्तुत तत्सम्बन्धी मनोविश्लेषण का और दूसरे अपने एक प्राध्यापक के व्याख्यान का। फ्रायड ने इसकी मूल प्रेरणा भी मातृ-रति की दमित वासना में ही ढूँढ़ निकाली है। मोनालिसा की मुस्कान के रहस्य का फ्रायड ने जो वैज्ञानिक (?) समाधान प्रस्तुत किया है, वह दूरारूढ़ होने के साथ ही कितना बीभत्स है, इसकी कल्पना चित्र को देखकर सहज ही की जा सकती है। अध्यापक ने अपने व्याख्यान में मुस्कान के रहस्य का अनेक प्रकार से विश्लेषण किया था। काफ़ी समय तक इसे आध्यात्मिक रंग देने का प्रयत्न भी किया गया, किन्तु अब यह धारणा सर्वथा निर्मूल हो गयी है। मोनालिसा की मुस्कान में सन्तोष का भाव निहित है, या व्यंग्य का, अथवा जान-बूझकर उसने रहस्यमयी मुद्रा धारण कर ली है? कला के मर्मवेत्ता इस विषय में तरह-तरह के अनुमान करते रहे हैं। चित्र की प्रतिकृति मेरे पास भी है : उसे देखकर मुझे लगता है, जैसे उस मुस्कान में कुछ व्यंग्य और कुछ चापल्य-मिसचिफ़-की भावना निहित है। उसमें गहराई और प्रौढ़ता अवश्य है, किन्तु कोमल अथवा उदात्त स्पर्श नहीं है। कला-समीक्षक के लिए जिस प्रकार उसकी मुस्कान रहस्य बनी हुई है, उसी प्रकार सहृदय के लिए चित्र की कलात्मक मूल्यवत्ता भी।"

ठीक इसी तरह पेरिस के दूसरे अजूबे 'एफ़िल टॉवर' को उन्होंने 'संसार की एक अद्भुत वस्तु' कहते हुए, दूसरे विश्व युद्ध में 'हिटलर की कुदृष्टि' पड़ने पर भी इसके बच जाने का स्वागत किया, पर साथ ही यह भी जोड़ दिया कि "इसका कलात्मक मूल्य विशेष नहीं है और मानव-जीवन के लिए उपयोग भी इसका क्या हो सकता है? इसीलिए महात्मा गाँधी ने इसे देखकर कहा था कि यह किसी अफ़ीमची की कल्पना प्रतीत होती है।" जिन्होंने इन दोनों रचनाओं को देखा है, उनमें से अधिकांश डॉ. नगेन्द्र के इस मन्तव्य से सहमत होंगे।

दृश्यों और वस्तुओं के प्रति अपने मनोभाव को व्यक्त करने के लिए वे कभी-कभी काव्योक्तियों का बड़ा सटीक प्रयोग करते हैं। बर्लिन के शार्लटर्नबुर्ग में भवन के 158 .फ़ुट ऊँचे गुंबद पर सौभाग्य की देवी की एक बहुचर्चित मूर्ति है, जो लगातार नाचती हुई वायु-सूचक यंत्र का काम देती है। इस मूर्ति को देखकर उन्हें तत्काल रहीम की यह उक्ति याद आ जाती है : 'पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय?'

यूरोप की आठ दिवसीय तूफ़ानी यात्रा में डॉ. नगेन्द्र ने जर्मनी के कई नगरों के अलावा पेरिस और रोम की यात्राएँ सम्पन्न की। इन नगरों में दर्शनीय स्थलों के विवरण देते हुए उन्होंने यात्रारम्भ से लेकर अन्त तक हर छोटी-बड़ी घटना की ब्यौरेवार प्रस्तुति तो की ही इसके अलावा उन्होंने उस शैक्षिक उद्देश्य का खुलासा भी किया, जिससे ये यात्राएँ प्रायोजित की गयी थीं। साहित्य के विद्वान अध्यापक-आलोचक की हैसियत से उन्होंने वहाँ हिन्दी के अध्ययन-अनुसंधान की व्यवस्था का जायज़ा लिया। विश्वविद्यालीय विभागों और प्रकाशन-गृहों के साथ हिन्दी-भाषा की रचनाओं के आदान-प्रदान की, अनुवाद की सम्भावनाओं पर विचार-विमर्श किया, कुछ भाषण दिए। इन भाषणों की सफलता-असफलता की चर्चा भी उन्होंने बड़े निस्संकोच भाव से की है।

यूरोप के बाद उन्होंने अमरीका के कुछ विश्वविद्यालयों के निमन्त्रण पर संयुक्त राज्य अमरीका की यात्रा की। इस यात्रा का ब्यौरा भी उसी ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जिस रूप में इससे पहले की यात्राओं का। अन्तर यह है कि उन्होंने अमरीका के बहाने, रास्ते के पड़ाव (स्टॉप ओवर) के रूप में टोकिओ (जापान) भ्रमण भी कर लिया। डॉ. नगेन्द्र उन नगरों का तो ब्यौरेवार वर्णन करते ही हैं जो उनके गन्तव्य हैं, वे उड़ान भरते हुए वायुवान की खिड़की से झाँककर उन हवाई-अड्डों और 'नगर के विशाल परिदृश्यों का अवलोकन' और उन पर लगभग बाल-सुलभ आश्चर्य और सम्मोहन के भाव से टिप्पणी करते चलते हैं।

इन यात्राओं और *तंत्रालोक से यंत्रालोक तक* में संकलित यात्रा-लेखों के बीच ध्यान से देखने पर कोई विशेष संरचनागत अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। यात्रा सम्बन्धी ब्यौरों में स्थानीय विविधता के कारण अन्तर दृश्यावली और जीवन-शैली का है। डॉ. नगेन्द्र ने इस विविधता को सटीक ढंग से पकड़ा भी है पर अन्त तक पहुँचकर उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला, वह आश्वस्त नहीं करता। सबसे लम्बी और अन्तिम यात्रा (अमरीका) के बारे में उनका कहना है कि, ''यह सबसे सुखद और सफल रही और इसका कारण यह है कि पहली यात्राओं में जहाँ देश-दर्शन प्रमुख था, वहाँ इस बार बौद्धिक आदान-प्रदान मुख्य और देश-दर्शन गौण रहा।'' जबकि सच्चाई यह है कि देश-दर्शन यहाँ भी उतना ही प्रमुख है। बौद्धिक आदान-प्रदान के नाम पर विदेशों में हिन्दी-शिक्षण सम्बन्धी कुछ जानकारियाँ, एकाध पाठ्यक्रम का विवरण, वहाँ दिए गये कुछ भाषणों और उन पर होनेवाली प्रतिक्रियाओं का हवाला, बस उतना ही जितना एक जगह, एक दिन में सम्पन्न किया जा सकता है। पन्द्रह दिन में पूर्व की ओर से जाकर पश्चिम से लौटने

में, पृथ्वी की जो परिक्रमा की गयी, उसमें इस औपचारिकता के निर्वाह से अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती। इस तथाकथित बौद्धिक आदान-प्रदान ने लेखक को भले ही आश्वस्त किया हो, पर यह इन यात्रा-लेखों का प्रमुख आकर्षण नहीं है।

□

13

हिन्दी आलोचना : डॉ. नगेन्द्र का अवदान

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद, हिन्दी आलोचना की बागडोर जिस आलोचक त्रयी ने सँभाली, उसमें एक नाम डॉ. नगेन्द्र का है। जब वे इस क्षेत्र में आये, उससे पहले हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी आलोचना में अपना स्थान कुछ दूर तक बना चुके थे। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना का आधार मुख्य रूप से मध्ययुगीन साहित्य था। नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र की ख्याति आरम्भ में आधुनिक साहित्य के आलोचकों के रूप में हुई। दोनों ने शुरुआत छायावाद के कवियों की सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या से की। वाजपेयी जी की इस प्रसंग में शुक्ल जी से टकराहट भी हुई। डॉ. नगेन्द्र उस ढंग से शुक्ल जी से टकराए भले ही न हों, पर उन्होंने अपना पहला समीक्षात्मक निबन्ध 'छायावाद' (1937) पर ही लिखा, और पुस्तक कवि सुमित्रानन्दन पन्त पर। यह पुस्तक आचार्य शुक्ल को इस विषय की एकमात्र ठीक-ठिकाने की किताब लगी तो उसका एक कारण यह भी रहा होगा कि छायावादी कवियों में उनके पसन्दीदा कवि भी पन्त ही थे।

डॉ. नगेन्द्र के आलोचनात्मक कृतित्व का प्रतिफलन मुख्य रूप से आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में ही हुआ था। उन्होंने आपने समकालीन रचनाकारों पर रसग्राही आधुनिक पाठक की संवेदनशीलता से लैस होकर लिखा। अपने शोध-प्रबन्ध के लिए उन्होंने रीति-काव्य और देव की कविता का चुनाव इसलिए किया होगा कि उस समय शोध के लिए मध्यकालीन साहित्य को ही उपयुक्त समझा जाता था। उनके शोध-प्रबन्ध का भी आलोचना में महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिए है, क्योंकि उन्होंने मध्यकालीन कविता का अध्ययन आधुनिक बोध और तर्कों के आधार पर किया था। अध्यापन के लिए भी वे आधुनिक साहित्य, विशेषकर छायावादी काव्य का चुनाव करते थे। परम्परा का ज्ञान, उसके प्रति सम्मान और दृष्टिकोण की आधुनिकता उनके अध्यापन और लेखन, दोनों की विशेषता थी।

उन्होंने काव्य-रचना से अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ किया था। उनकी कविता का स्वर उत्तर-छायावादी कविता से मेल खाता था, गोकि उन कवियों का फक्कड़पन और सहजता डॉ. नगेन्द्र की कविताओं में नहीं मिलती। काव्य-रचना और आलोचना, दोनों में ही उनकी व्यक्तिनिष्ठ अभिरुचि का प्रमाण मिलता है। साहित्य के बारे में उनकी पसन्द नापसन्द का आधार भी यही मानसिकता थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनकी साहित्य की परिभाषा थी। वे साहित्य को 'निश्छल आत्माभिव्यक्ति' कहते थे और छायावाद को 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह'। छायावाद की उनकी यह परिभाषा हिन्दी आलोचना में बराबर उद्धृत होती रही। छायावाद के बाद की काव्य-प्रवृत्तियों में प्रगतिशील और प्रयोगशील साहित्य के साथ वे विशेष तालमेल नहीं बैठा सके। इस साहित्य में वही रचनाकार उन्हें किसी हद तक ग्राह्य हो सके, जिनमें कुछ दूर तक छायावादी प्रवृत्तियों का बढ़ाव दिखाई पड़ा। अन्य समकालीनों को उनसे उदासीनता या असहिष्णुता की शिकायत ही रही। वे अपनी नापसन्दगी को छिपाते नहीं थे पर कटुता और ध्वंसात्मक तेवर को बराबर बचाते थे।

रचनात्मक साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा से उन्होंने बहुत जल्दी मुँह मोड़ लिया। उनकी रुचि अपने शोध-प्रबन्ध के रचनाकाल (1946) में ही काव्यशास्त्र की ओर हो गयी थी। वह प्रवृत्ति उन पर ऐसी हावी हुई कि उन्होंने अपने आपको पूरी तरह सैद्धान्तिकी के अध्ययन और आलोचना-पद्धतियों के विश्लेषण के प्रति समर्पित कर दिया। इस प्रकार हिन्दी आलोचना, एक सहृदय संवेदनशील आलोचक की व्यावहारिक आलोचना से वंचित हो गयी। बाद में उनकी ख्याति रस-सिद्धान्त के व्याख्याता शास्त्रज्ञ आचार्य के रूप में हुई।

उन्होंने अपने आपको पूरी तरह काव्यशास्त्र के अध्ययन में संलग्न कर लिया। उन्होंने योजना बनाकर संस्कृत के मानक ग्रन्थों के अनुवाद कराए। उनकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ लिखीं। इसी प्रकार उन्होंने पश्चिमी के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों और आलोचना-पद्धतियों को भी सुलभ कराया और तुलनात्मक अध्ययनों की नींव डाली। उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन का शिखर उनका ग्रन्थ *रस-सिद्धान्त* था। उनसे पहले शुक्ल जी भी रस-सिद्धान्त की मीमांसा कर चुके थे। उनसे अनेक बातों में सहमति-असहमति के बावजूद इस ग्रन्थ को शुक्ल जी के कार्य का बढ़ाव ही माना जाएगा। दोनों में मूल अन्तर दृष्टिकोण का था। शुक्ल जी अपने चिन्तन में वस्तुवादी थे और डॉ. नगेन्द्र व्यक्तिवादी पर वे कई दृष्टियों से आचार्य शुक्ल को अपना आदर्श मानते थे।

डॉ. नगेन्द्र की सैद्धान्तिक मान्यताओं में अन्त तक कोई अन्तर नहीं आया। वे पश्चिम की अधुनातन आलोचना-पद्धतियों पर लिखते हुए भी यही दोहराते रहे कि ''साहित्य काफ़ी अंशों में वैयक्तिक अवचेतन की ही नहीं वैयक्तिक चेतन की भी सृष्टि है।'' और ''साहित्य का उद्देश्य है सौन्दर्य की सृष्टि' जिसमें विद्रूप का प्रवेश सौन्दर्य अथवा आनन्द-रूप फल-योग के 'साधन-मात्र' के रूप में ही हो सकता है। 'नए' के प्रति उनकी असहिष्णुता सर्वविदित थी। 'नई समीक्षा' के प्रयोग 'सपाट-बयानी' को उन्होंने 'ऋजु कथन' का 'भौंडा पर्याय' कहकर खारिज कर दिया, और बहुत-सी बातों पर यह मानकर विचार करना व्यर्थ समझा कि 'असिद्ध का खंडन करने के प्रयास से भी कोई लाभ नहीं।''

डॉ. नगेन्द्र को नई साहित्यिक प्रवृत्तियों से पहले निराशा हुई और बाद में वे उनके प्रति उदासीन हो गये। उनके लिए यह उनकी रुचि और काव्य-संस्कार का सवाल था, किसी की उपेक्षा या अवमानना का नहीं। अपनी आलोचना में भी उनका प्रयास खंडन-मंडन या चुनौतियों का नहीं, व्याख्या-विश्लेषण और अनुशंसा का ही अधिक रहता था।

'नए' में उनकी विशेष रुचि सैद्धान्तिकी की नई प्रवृत्तियों के प्रति थी। सिद्धान्त-विवेचन के अन्तिम दौर में उन्होंने 'शैली-विज्ञान', 'मिथक', 'काव्य-बिम्ब', 'नई समीक्षा', 'साहित्य का समाजशास्त्र'—जैसे विषयों पर लिखने का हौसला दिखाया। यह बात अलग है कि इन विषयों पर लिखते हुए उनमें नए को स्वीकार करने के बजाय इन सिद्धान्तों को अपनी मान्यताओं के अनुरूप ढालकर देखने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। उनके आलोचनात्मक विवेक का प्रमाण है, कि उन्हें जल्दी ही यह अन्दाज़ हो गया कि यह उनकी अपनी ज़मीन, उनके मन का क्षेत्र नहीं है और उन्होंने अपनी लेखनी को विराम दे दिया।

अपने जीवन के अन्तिम दौर में भी डॉ. नगेन्द्र अपने स्वभाव के अनुरूप योजनाएँ बनाकर उन्हें कार्यान्वित करते रहे। ख़ाली बैठना उनकी आदत नहीं थी और साहित्य-सिद्धान्त के क्षेत्र में किसी प्रकार का मौलिक अवदान उनके लिए सम्भव नहीं रह गया था। उन्होंने अपनी पूर्व-रचित सामग्री को पुनर्व्यवस्थित कर प्रकाशित कराने की ओर ध्यान दिया। उनकी ग्रन्थावली का प्रकाशन ऐसी ही वृहद् योजना के तहत हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'विश्व काव्य' की श्रेष्ठ रचनाओं का चयन किया, उनका अनुवाद कराया और प्रकाशित कराया। इस चयनिका की कुछ कविताओं के अनुवादक के रूप में उन्होंने आयु के इस अन्तिम चरण में एक बार फिर अद्भुत रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। ज़ाहिर है,

यह काम मुख्य रूप से पुनर्व्यवस्था और सम्पादन का था।

हिन्दी आलोचना के इतिहास में उनका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने अपने समवर्ती आलोचकों के साथ हिन्दी जगत के आलोचनात्मक मिज़ाज और बोध का निर्माण किया। कुछ बातों के बारे में मतभेद के बावजूद यह काम एक दृष्टि से आचार्य शुक्ल की परम्परा का विकास और विस्तार ही कहा जाएगा।

यह भी विडम्बना ही है कि जिस अध्यापकीय आलोचना से रचनाकारों को प्रायः जड़ता और उपेक्षा की शिकायत रहती है, हिन्दी आलोचना में सबसे सक्रिय और सार्थक भूमिका विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षा केन्द्रों से सम्बद्ध ऐसे ही अध्यापक-आलोचकों की है। बड़ी लम्बी सूची है ऐसे अध्येता आलोचकों की, जिसका आरम्भ आचार्य शुक्ल से हुआ था। इनमें डॉ. नगेन्द्र का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। यह बात और है कि अध्यापक और आलोचक जिस हद तक उनके व्यक्तित्व में अभिन्न हो गये थे, उतने किसी अन्य समकालीन आलोचक में नहीं। इसी तरह काव्य-शास्त्रीय रचनाओं के सम्पादन, अनुवाद और व्याख्या-विश्लेषण का काम जितने बड़े पैमाने पर उन्होंने सम्पन्न किया, उतना किसी और ने नहीं किया।

समय के साथ उनके मन में यह विश्वास भी घर कर गया था कि एक सफल आचार्य-अध्यापक के रूप में छायावाद की कालजयी रचनाओं का जिस रूप में उन्होंने भाष्य किया है, वह आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए इन रचनाओं की समझ का मार्ग प्रशस्त करेगा। इसीलिए उन्होंने इन्हें प्रकाशित कराना उचित समझा। ('राम की शक्ति पूजा' के ऐसे ही भाष्य का एक अंश, परिशिष्ट सं. 1 में संकलित है।)

डॉ. नगेन्द्र आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद की पीढ़ी के ऐसे आलोचक हैं, जिन्हें उनके सरोकारों की विविधता, विश्वविद्यालयी क्षेत्र में हिन्दी विषय की सम्मानजनक प्रतिष्ठा, हिन्दी शिक्षण में काव्य-शास्त्रीय चिन्तन के प्रसार और मध्यकालीन साहित्य के आधुनिक-बोधात्मक अध्ययन की परम्परा का सूत्रपात करने के लिए हमेशा स्मरण किया जाएगा।

□

भाष्य

राम की शक्ति पूजा निराला की सर्वश्रेष्ठ कृति है। निराला छायावाद के मूर्धन्य कवि हैं और छायावाद आधुनिक हिन्दी काव्य का स्वर्ण-शिखर है। इस प्रकार, यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 'राम की शक्तिपूजा' आधुनिक हिन्दी काव्य की उपलब्धि का मानदंड है।

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया...।
**** जानकी भीरु उर आशाभर रावण सम्वर।*

हिन्दी काव्य की सामान्य छान्दस पद्धति से भिन्न, इस कविता में 'पद्यानुच्छेद-पद्धति'[1] का अवलम्बन किया गया है। अंग्रेज़ी के कथा-काव्यों में प्राय: इसी का प्रयोग होता रहा है। इसके अतिरिक्त, उसी शैली में यहाँ 'प्रवाही पंक्ति-विधान'[2] का भी यथास्थान उपयोग किया गया है, जिसके अनुसार विराम का उपयोग भाव अथवा विचार की पूर्ति के साथ होता है, छन्द के नियम के आधार पर नहीं। 'राम की शक्तिपूजा' की आरम्भिक तीन पंक्तियों में यह प्रयोग द्रष्टव्य है।

'रवि हुआ अस्त' (विराम)। यह विराम पहला वाक्य पूरा होने पर ही दे दिया गया है, जबकि छन्द के नियम के अनुसार 'ज्योति के' बाद इसका प्रयोग होना चाहिए। इसके बाद दूसरा वाक्य पहली पंक्ति के पूर्वार्द्ध से ही आरम्भ होकर दूसरी पंक्ति को पार करता हुआ तीसरी पंक्ति में जाकर 'आज का' के साथ समाप्त होता है :

ज्योति के पत्र में लिखा अमर,
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर आज का।

---

1. वर्स पैराग्राफ़
2. रन-ऑन-लाइंस

इसका गद्यान्वय इस प्रकार होगा—आज का राम-रावण का अपराजेय समर ज्योति के पत्र में अमर लिखा रह गया।

राम-रावण का युद्ध अन्तिम चरण में पहुँच गया है। मेघनाद सहित रावण के सभी महारथी हत हो चुके हैं और अब राम-रावण का निर्णायक द्वन्द्व युद्ध आरम्भ हो गया है। आज इस द्वन्द्व युद्ध का पहला दिन था, जिसमें महाशक्ति के संरक्षण के बाद रावण का पक्ष प्रबल रहा।

प्रस्तुत अवतरण में उसी का ऊर्जस्वित वर्णन किया गया है :

सूर्य अस्त हो गया और सूर्यास्त के साथ युद्धविराम भी हो चुका था। परन्तु उसका प्रभाव अभी वातावरण में शेष था। आज राम-रावण के बीच ऐसा दुर्धर्ष युद्ध हुआ कि यह प्रतीत होता था, मानों दोनों योद्धाओं में से किसी की भी पराजय सम्भव नहीं है। यहाँ 'अपराजेय' शब्द व्याख्या-सापेक्ष है। सामान्यतः इस प्रकार के द्वन्द्व के लिए यह कहा जाता है कि दोनों पक्षों में से किसी की जय-पराजय नहीं हुई। किन्तु कवि ने 'अपराजेय' शब्द का प्रयोग किया है, जो इस तथ्य की व्यंजना करता है कि दोनों पक्ष इतने प्रबल थे कि उनमें से किसी की पराजय की सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती थी—ऐसा लगता था कि युद्ध अनन्त काल तक चलता रहेगा। 'ज्योति के पत्र में' के दो अर्थ हो सकते हैं—(1) आकाश के फलक पर, और (2) अस्तमान सूर्य के प्रकाश में। आशय यह है कि युद्ध समाप्त होने पर भी उसका सम्पूर्ण दृश्य आकाश के फलक पर अस्तमान सूर्य के प्रकाश में अब भी अमिट अक्षरों में अर्थात् अत्यन्त सजीव रूप से अंकित था। यहाँ 'में' परसर्ग विचारणीय है। सामान्य रूप में 'पत्र पर' लिखना ही प्रयोग में आता है और परवर्ती कुछ पाठों में 'पर' मिलता भी है। किन्तु 'अमिट अक्षरों में लिखा रह गया' के साथ 'में' का प्रयोग ही अधिक सार्थक है—पत्र 'पर' लिखा जाता है और पत्थर 'में' लिखा या उत्कीर्ण किया जाता है, जो स्वभावतः अधिक स्थायी होता है। 'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' नाटक में इसी प्रकार का एक वाक्य है—'आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों में लिखे हुए अदृश्य के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं...'

रवि के अस्त होने के साथ उपर्युक्त वर्णन का आरम्भ कदाचित् इस तथ्य को भी इंगित करता है कि आज के युद्ध में रविकुल के गौरव रामचन्द्र—कवि के शब्दों में 'भानुकुलभूषण' (राम की शक्तिपूजा) का पक्ष निर्बल रहा था।

डॉ. रामविलास शर्मा ने भी इसी प्रकार का संकेत किया है और प्रस्तुत प्रसंग में वाल्मीकि का निम्नोक्त श्लोक उद्धृत किया है—

युद्ध्यतामेव तेषां तु तदावानरराक्षसाम्।
रविरस्तंगतः रात्रिः प्रवृत्ताप्राणहारिणी।।

अर्थात् वानर और राक्षस सेनाओं में ऐसा भीषण युद्ध हो रहा था कि युद्ध करते-करते सूर्यास्त हो गया और भयावह रात्रि का आरम्भ हो गया।

'रवि हुआ अस्त' में कदाचित् 'रविरस्तंगतः' की अनुगूँज हो सकती है। रामायण के श्लोक में भी युद्ध की भीषणता का संकेत है—दोनों सेनाएँ इस प्रकार जूझती रहीं कि उन्हें सूर्यास्त होने का ध्यान ही नहीं आया। *राम की शक्तिपूजा* में युद्ध की भीषणता का उल्लेख तो अवश्य है, किन्तु 'रवि हुआ अस्त' वाक्य में इस प्रकार की कोई व्यंजना नहीं है—वह केवल इसी तथ्य का सूचक है कि सूर्यास्त होने पर उस दिन का युद्ध समाप्त हो गया था।

निराला बहु-अधीत कवि थे और बहु-अधीत कवियों की रचनाओं में कालजयी कवियों की उक्तियों के संस्कार अनायास ही परिलक्षित हो जाते हैं। 'राम की शक्तिपूजा' में कई स्थानों पर *रामचरितमानस* के संस्कार हैं।

इनके आगे अब युद्ध का वर्णन आरम्भ होता है। किसी घटना के सामान्यतः तीन अंग होते हैं—दृश्य, नाद और वेग। इस युद्ध-वर्णन में तीनों का ही यथावत् प्रत्यंकन किया गया है। कवि ने युद्ध का साक्षात् दृश्य उपस्थित करने के उद्देश्य से वर्णन की संश्लिष्ट *पद्धति* का ही उपयोग किया है। अतः यहाँ पृथक् वाक्यों का नहीं, वरन् विशेषणों और कृदंत-युक्त समस्त पदों का ही उपयोग किया है। पहला समस्त पद है—'तीक्ष्ण शर-विधृत-शिप्र-कर' जिसे बहुब्रीहि समास के रूप में विशेषण भी माना जा सकता है। अर्थ यह है कि इस युद्ध में दोनों सेनाओं के योद्धा अपने हाथों में तीक्ष्ण बाण धारण किए अत्यन्त शिप्रता (तेज़ी) के साथ शत्रु पर प्रहार कर रहे थे और यह युद्ध बड़े वेग के साथ चल रहा था। दूसरा पद है 'शत-शेल संवरण-शील'। जैसाकि 'शील' शब्द से स्पष्ट है, यह निश्चित ही विशेषण पद है। 'शील' का, बोलचाल की भाषा में, अर्थ होता है 'वाला' अर्थात् विशेषता से युक्त : 'शत-शेल-संवरण' इस युद्ध की विशेषता थी। एक पक्ष के योद्धा एक साथ सौ-सौ शेलों से प्रहार करते थे और प्रतिपक्ष के योद्धा तत्काल उसका प्रतिरोध कर देते थे। योद्धाओं के सिंहनाद से आकाश गूँज रहा था। युद्ध की गति इतनी तीव्र थी कि एक सेना के सेनापति प्रतिक्षण नए व्यूहों का निर्माण करते थे और प्रतिपक्ष के महारथी उतने ही कौशल के साथ उनको ध्वस्त कर देते थे। राक्षस-सेना आगे बढ़ रही थी और उसका अवरोध करने के लिए वानर-सेना के वीर भीषण हुंकार कर रहे थे। 'प्रत्यूह' का अर्थ है, 'बाधा'—आगे बढ़ती राक्षस

सेना को बाधित करने के लिए वानर वीर क्षुब्ध होकर हुंकार कर रहे थे।

आप देखें कि उपुर्यक्त वर्णन में युद्ध की घटना के तीनों पक्षों का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। योद्धाओं के शर-संधान और शेल-प्रहार में उसका दृश्य रूप है, सिंहनाद से गुँजरित आकाश में नाद की और प्रखर वेग से होनेवाले घात-प्रतिघात तथा व्यूह-निर्माण आदि में वेग की प्रबल व्यंजना है। महाभारत में उल्लेख है कि सामान्यतः व्यूह की रचना पूरे एक दिन के लिए हुआ करती थी, किन्तु इस युद्ध में क्षण-क्षण में नए व्यूहों का निर्माण हो रहा था। शेल एक प्रकार का अस्त्र था जो भाले की तरह फेंककर मारा जाता था।

यहाँ तक तो युद्ध का वस्तुगत वर्णन हुआ है। अब कथानायक राम के उल्लेख के साथ उसमें मानवीय तत्त्व का समावेश हो जाता है।

राम इस दृश्य को देख रहे थे। रक्तनेत्र राक्षसराज रावण का गर्व खंडित करने के लिए उन्होंने जो विशाल बाण छोड़े थे, वे सब लक्ष्य-भेद करने में विफल रहे—उनसे रावण की कोई क्षति नहीं हुई। इस अवतरण में एक शब्द आया है 'हत', जिसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो 'हत' का सामान्य अर्थ है 'छोड़े हुए'—जैसा कि आगे की एक पंक्ति में भी हुआ है—'हत मंत्रपूत शर संवृत करती बार-बार'। इसके अतिरिक्त लक्ष्य के साथ संयुक्त होकर 'हतलक्ष्य' का अर्थ हो जाता है—'लक्ष्य-भेद करने में विफल'। यद्यपि दोनों ही अर्थ उपर्युक्त सन्दर्भ में ठीक बैठ जाते हैं, फिर भी दूसरा अर्थ प्रसंग के अधिक अनुकूल है। इस घटना से स्वभावतः राम अत्यन्त क्रुद्ध हो गये—उनके कमल-नेत्रों से आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं। इस प्रसंग में कवि ने राम के लिए कविता के आरम्भ में ही 'राजीवनयन' विशेषण का प्रयोग किया है जिसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि अन्त में 'राजीवनयन' पद से ही कथा की ग्रन्थि खुलती है :

माता कहती थीं मुझे सदा राजीवनयन।
दो नीलकमल हैं शेष, अभी यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ, देकर मातः, एक नयन।

रामचन्द्र के लिए 'राजीवनयन' विशेषण का प्रयोग तुलसीदास को भी अत्यन्त प्रिय था : (1) राजीवनयन धरे धनु-सायक। भगत-विपति-भंजन सुखदायक।। (बालकांड), (2) जो कोसलपति राजिवनयना। करहु सो राम हृदय मम अयना।। (उत्तरकांड) *विनयपत्रिका* के स्तुतिपरक पदों में भी इसका प्रचुर प्रयोग है।

इसके साथ ही 'राजीवनयन' पद के प्रयोग में आलंकारिक चमत्कार भी है। कमल से तो मकरन्द निसृत होता है, किन्तु इस समय अग्नि के स्फुलिंग

निकल रहे थे। राम के विशेषण 'राजीवनयन' और रावण के लिए प्रयुक्त विशेषण 'लोहित-लोचन' में शब्दगत विरोध (एंटीथीसिस) का भी आभास मिलता है।

रामचन्द्र जितने कौशल और त्वरा से रावण पर प्रहार करते थे, रावण उतने ही वेग से उन्हें विफल कर देता था। इस घात-प्रतिघात में दो प्रहर बीत गये अर्थात् मध्याह्न हो गया। भारतीय काल-गणना के अनुसार दिन और रात में चार-चार प्रहर होते हैं और एक प्रहर तीन घंटे के बराबर होता है। इस प्रकार, पहले प्रहर का आरम्भ सूर्योदय से और दूसरे का अन्त मध्याह्न में होता है। राम के प्रहार जहाँ विफल हो रहे थे, वहाँ विजय के गर्व से उद्धत रावण के आक्रमण से विशाल वानर-वाहिनी पूरी तरह आक्रान्त हो गयी।

अपने विश्वजयी बाणों के इस प्रकार भंग होने से राम सर्वथा हतप्रभ हो गये थे और अपलक नेत्रों से, आश्चर्यचकित होकर यह दृश्य देख रहे थे। यहाँ भाव शब्द का प्रयोग व्युत्पत्यर्थ में अर्थात् 'होने' के अर्थ में किया गया है—भंग-भाव=भंग होना। उनके सभी अंग रावण के बाणों से बिंध गये थे और उनसे ख़ून की तेज़ धारा बह रही थी। फिर भी उन्होंने धनुष को कसकर मुट्ठी में पकड़ रखा था। इसके विपरीत रावण का प्रत्येक प्रहार अमोघ सिद्ध हो रहा था, जिससे वानर-सेना एकदम व्याकुल हो उठी थी—वानर-सेना में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। 'बल' शब्द का अर्थ है सेना या सैनिक समूह-अंग्रेज़ी में फ़ोर्स। आज भी इस शब्द का 'सुरक्षा-बल' आदि के रूप में मुक्त भाव से प्रयोग हो रहा है।

राम की सेना के बड़े-बड़े महारथी-सुग्रीव, अंगद, विभीषण, नल आदि मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे। लक्ष्मण और रणनीतिज्ञ जाम्बवान युद्ध-क्षेत्र से हट गये थे। असंख्य वीर एक साथ मिलकर रावण का अवरोध करने का प्रयास कर रहे थे। किन्तु वह सब व्यर्थ था। रण-भूमि में ऐसा लगता था, मानों प्रलय के समुद्र में तूफान आ गया हो। समुद्र के क्षुब्ध होने का सीधा अर्थ है, उसमें तूफ़ान आना। इस समय राम की सेना का केवल एक ही वीर था, हनुमान जो विचलित नहीं हुआ था। वह अब भी बराबर अपने वीरों का उत्साह-वर्द्धन कर रहा था। यह महावीर भीषण ज्वालामुखी के समान युद्ध के आरम्भ से अन्त (सूर्योदय से सूर्यास्त) तक आग उगलता रहा। यही भीरुमना जानकी की आशा का एकमात्र अवलम्ब था, क्योंकि केवल यही रावण का प्रतिरोध करने में समर्थ था। इस सन्दर्भ में कुछ विशेष तथ्य ज्ञातव्य हैं :

1. राम-रावण के अपराजेय युद्ध का वर्णन *वाल्मीकि रामायण* के युद्धकांड में सर्ग 102 से 108 तक विस्तार के साथ किया गया है—यह युद्ध इतना भीषण

था कि देवता-असुर और इधर वानर तथा राक्षस स्तब्ध होकर उसे देखने लगते थे और ऐसा प्रतीत होता था कि दोनों ही योद्धा अजेय हैं। अतः किसी की भी पराजय नहीं हो रही थी। निराला ने इसी युद्ध को अपनी सघन शैली में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर दिया था।

2. निराला-काव्य के मर्मज्ञ डॉ. रामविलास शर्मा ने *वाल्मीकि रामायण* के युद्धकाण्ड से कुछ सार्थक पदबंध उद्धृत कर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि प्रस्तुत वर्णन के प्रसंग में निराला की चेतना में वाल्मीकि-काव्य के संस्कार विद्यमान थे :

(क) *सुस्राव रुधिरं बहु/खर रुधिर-स्राव।*

(ख) *भिन्न मुष्टिपरीणाहं त्रिनत रत्नभूषितम्*

—अर्थात् मेघनाद के प्रहारों से राम धराशायी हो गये और उनके हाथ से धनुष की मूठ छूट गयी। निराला ने भिन्नमुष्टि के स्थान पर बद्ध-कोदंड-मुष्टि लिखकर राम के गौरव की रक्षा की है।

(ग) *वाल्मीकि रामायण* में लिखा है कि जिस समय राम की सेना के सभी वीर मूर्च्छित पड़े हुए थे उस समय हनुमान हाथ में मशाल लिए हुए उनके बीच घूम रहे थे। तुलना कीजिए : "मूर्च्छित सुग्रीवांगद** हनुमत केवल प्रबोध।"

3. कवि ने गाढ़बंध, सघन-समस्त पदावली का अत्यन्त कौशलपूर्वक प्रयोग किया है, जिससे उस घमासान युद्ध का साक्षात् दृश्य उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार दोनों सेनाओं के वीर युगनद्ध हो गये थे, उसी प्रकार कवि के शब्द भी एक-दूसरे से सन्नद्ध हो गये हैं। विभक्ति, परसर्ग, क्रियापद आदि से युक्त विश्लेष-प्रधान भाषा में घमासान युद्ध का वर्णन सम्भव नहीं था। इस रहस्य से अनभिज्ञ कुछेक हिन्दी लेखकों ने प्रस्तुत वर्णन की जो उपहासपूर्ण आलोचना की है, वह इस बात का प्रमाण है कि वे भाषिक कला के रहस्यों से अनभिज्ञ हैं।

4. यहाँ सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि की अपेक्षा लक्ष्मण और जाम्बवान को वरीयता दी गयी है—सुग्रीव आदि जहाँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं, वहाँ लक्ष्मण और जाम्बवान केवल युद्ध-भूमि से हट जाते हैं।

5. जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट हो जाता है, कथा के दूसरे महत्त्वपूर्ण पात्र हनुमान हैं, लक्ष्मण नहीं।

6. जानकी के भीरु स्वभाव का संकेत कवि ने तुलसीदास से ग्रहण किया है, जिन्होंने उन्हें अत्यन्त भीरुमना, मध्ययुगीन कुलवधू के रूप में चित्रित किया है—'चित्रलिखित कपि देखि डराती।'

दूसरे अनुच्छेद में दोनों सेनाओं के लौटने का दृश्य है। वास्तव में 'राम की शक्तिपूजा' की कथा वस्तु-वर्णन के माध्यम से नहीं वरन् दृश्यों के माध्यम से ही चलती है :

लौटे युग दल...
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।

युद्ध-विराम होने पर दोनों सेनाएँ अपने-अपने शिविरों की ओर लौट रही थीं। राक्षस-सेना की विजय हुई थी, इसलिए वह गर्व से उद्धत थी। राक्षस-वीरों से पदाक्रान्त होकर पृथ्वी मानों काँप रही थी और उनके जय-जयकार से आकाश जैसे आक्रान्त हो उठा था। दूसरी ओर थी, पराजय के अवसाद से ग्रस्त वानर-सेना, जो अपने सेनापति रामचन्द्र के चरणचिह्नों का अनुसरण करती हुई शिविर की ओर लौट रही थी। यह सेना इतनी अस्तव्यस्त थी कि उसे देखकर लगता था जैसे सैनिक-दल नहीं, वरन् विरक्त साधुओं की ज़मात अपने आश्रम की ओर लौट रही हो। स्थविर का पारिभाषिक अर्थ है—'बौद्ध भिक्षु', किन्तु यहाँ उसका सामान्य अर्थ 'साधु' ही ग्रहण करना पड़ेगा, क्योंकि राम के समय बौद्ध-भिक्षु की संकल्पना तो किसी प्रकार संगत नहीं हो सकती। सम्पूर्ण वातावरण शान्त-स्तब्ध था। संध्या का कमल-सूर्य अस्त हो रहा था। सांध्य कमल को यदि आलंकारिक रूप में ग्रहण किया जाए तो उसका अर्थ होगा सूर्य और सामान्य अभिधार्थ में ही ग्रहण किया जाए तो उसका अर्थ होगा, कमल-पुष्प जो संध्या के समय मुरझाने लगे थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि पहला अर्थ ही अधिक काव्योचित है। लक्ष्मण चिन्ताग्रस्त होकर धीरे-धीरे चल रहे थे और उनके पीछे थे समस्त वानर वीर। *अनामिका* के पहले संस्करण (सं. 1935) में, जिसमें 'राम की शक्तिपूजा' पहली बार प्रकाशित हुई थी, 'चिन्ता-पल' पद मिलता है और परवर्ती संस्करणों में भी प्रायः इसकी आवृत्ति हुई है। किन्तु यह निश्चय ही मुद्रण-दोष है—शुद्ध पद है, चिन्तापर-चिन्ताग्रस्त, क्योंकि पल शब्द की संगति यहाँ किसी प्रकार भी नहीं बैठती। लक्ष्मण के आगे चल रहे थे रामचन्द्र, अपने नवनीत के समान अत्यन्त कोमल चरणों को धीरे-धीरे पृथ्वी पर रखते हुए। उन्होंने अपने धनुष की प्रत्यंचा शिथिल कर दी थी—तूणीर (बाणकोष) धारण करने वाला कटिबंध-कमर में बंधी हुई पेटिका-ढीली हो गयी थी। इस प्रसंग में राम के चरणों का स्मरण करते ही निराला का भक्ति-भाव जाग्रत हो जाता है और वे उनकी कोलता को अभिव्यक्त करने के लिए सामान्य कमल आदि उपनामों से भिन्न नवनीत शब्द का प्रयोग करते हैं, जो अतिशय कोमलता का व्यंजक है :

सन्त-हृदय नवनीत समाना।
कहा कविन पै कहा न जाना।।
निज परिताप द्रवहिं नवनीता।
पर-दुख द्रवहिं से सन्त पुनीता।।

इसी भावना से प्रेरित होकर कृत्तिवास ने सीता के चरणों को 'ननीर पुतली'— अर्थात् नवनीत-पुत्तलिका कहा है। निराला के मन में शायद यह भी संस्कार रहा हो।

इसके आगे रामचन्द्र का विराट चित्र अंकित है।

रणभूमि से लौटते हुए रामचन्द्र ने अपनी जटाएँ खोल दीं, जिन्हें युद्ध के समय दृढ़तापूर्वक बाँध रखा था और वे बिखरकर उनके पृष्ठभाग, वक्षस्थल तथा भुजाओं पर फैल गयीं। काली जटाओं से आवृत राम के विराट पुरुष-शरीर को देखकर, ऐसा प्रतीत होता था, मानों रात्रि का सघन अन्धकार, अन्तरिक्ष से उतरकर किसी विशाल उत्तुंग पर्वत के चारों ओर फैल गया हो और जटामंडल को भेदकर चमकते हुए राम के तेजस्वी नेत्र ऐसे लगते थे, जैसे उस अन्धकार के पार दो तारे चमक रहे हों।

उपर्युक्त पदबंध में कवि ने एक विराट, संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत किया है। इसके तीन घटक हैं : उपमेय पक्ष में—(1) राम का विराट शरीर, (2) घना काला जटामंडल, (3) उसको भेद कर चमकते हुए दो तेजस्वी नेत्र; और उधर, उपमान पक्ष में ये तीन घटक हैं—(1) विशाल पर्वत, (2) रात्रि का सघन अन्धकार, (3) उसके पार चमकते हुए दो तारे।

प्रस्तुत भाष्य के लेखक को निराला के मुख से इस कविता का वाचन सुनने का सौभाग्य मिला था। इन पंक्तियों को पढ़ते-पढ़ते निराला एक-साथ खड़े हो जाते थे, उनकी घनी केशराशि लहराने लगती थी और विशाल नेत्र सहसा चमक उठते थे। इस दृश्य को देखकर श्रोता को कवि और नायक के तादात्म्य का आभास अनायास ही हो जाता था। 'राम की शक्तिपूजा' की सम्पूर्ण' मनोभूमिका में व्याप्त कवि और नायक के तादात्म्य की यह पहली झाँकी है।

आये सब शिविर सानु पर पर्वत के मंथर।

× ×

देखते राम का जित सरोज मुख-श्यामदेश।

तीसरा दृश्य राम के शिविर का है। तुलसीदास के अनुसार यह शिविर सुवेल पर्वत पर स्थित था :

इहाँ सुवेल सैले रघुबीर।
उतरे सैन्य सहित अति भीरा।।

सेनाध्यक्ष, सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान, अंगद, हनुमान, नल-नील, गवाक्ष आदि अपनी-अपनी एकक के सैनिकों को विश्राम-स्थल पर भेजकर मंथर गति से चलते हुए, उस दिन के युद्ध की समीक्षा और त्रुटियों का समाधान करने के लिए, पर्वत के शिखर पर स्थित शिविर में एकत्र हो गये। नल-नील की तरह गवाक्ष भी सुग्रीव की सेना का एक वीर था। तुलसीदास ने तो इसका विशेष उल्लेख नहीं किया, किन्तु वाल्मीकि ने अवश्य किया है।

रघुकुलगौरव रामचन्द्र स्फटिक शिला पर आसीन हो गये। उनके सेवा-प्रवीण अनुचर हनुमान हाथ-मुँह धोने के लिए शीतल जल ले आये। अन्य महारथी भी सन्ध्या-वन्दन आदि करने के लिए निकटवर्ती सरोवर पर जाकर शीघ्र ही लौट आये—और रामचन्द्र के चारों ओर, उनका आदेश सुनने के लिए, तत्पर भाव से—अर्थात्, पूरी तरह सावधान होकर बैठ गये।

राम के पीछे लक्ष्मण बैठे हुए थे—सामने की पंक्ति में विभीषण, धीरमना जाम्बवान तथा सुग्रीव...और चरणों के पास बैठे थे हनुमान।

इनके अतिरिक्त अन्य सेनानायक (नल, नील, गवाक्ष आदि) भी अपनी पद-मर्यादा के अनुसार यथास्थान बैठ गये—और सभी (आदेश की प्रतीक्षा करते हुए) एकाग्र दृष्टि से नील कमल से भी सुन्दर राम के मुख-मण्डल की ओर देख रहे थे।

राम की सभा का यह चित्र *रामचरितमानस* के एक समानान्तर चित्र का स्मरण दिलाता है :

प्रभु धर सीस कपीस उछंगा। बाम-दहिन दिसि-चाप-निषंगा।।
दुहुं कर-कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना।।
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान-सरासन।।
बड़भागी अंगद-हनुमाना। चरन-कमल-चापत बिधि नाना।।

उपर्युक्त चित्र में कवि ने अत्यन्त सचेष्ट भाव से मर्यादा का निर्वाह किया है। अनुज होने के नाते लक्ष्मण राम के सामने न आकर पीछे बैठे हुए हैं। विभीषण-सुग्रीव मित्र होने के नाते और वृद्ध जाम्बवान समादृत होने के कारण अग्र पंक्ति में थे और राम के सेवक हनुमान उनके चरणों के पास बैठ हुए थे।

यहाँ भाषिक शैली की दृष्टि से एक तथ्य ध्यान देने योग्य है—और वह

यह कि निराला अपनी वक्र अभिव्यंजना-शैली के अनुरूप बहुव्रीहि समास का ही प्रयोग अधिक करते हैं—तत्पुरुष का नहीं। 'राम की शक्तिपूजा' में ऐसे प्रयोग कई बार मिलते हैं। प्रस्तुत अवतरण में 'जित-सरोज-मुख-श्यामदेश' में ऐसा ही प्रयोग है—'जिसने सरोज को जीत लिया है—ऐसा राम का श्यामदेश मुख।'

□

डॉ. नगेन्द्र की पुस्तकें

मौलिक रचनाएँ

हिन्दी

आलोचना

1.	सुमित्रानंदन पंत	1938
2.	साकेत : एक अध्ययन	1939
3.	आधुनिक हिंदी नाटक	1940
4.	विचार और अनुभूति	1942
5.	विचार और विवेचन	1949
6.	रीतिकाव्य की भूमिका	1949
7.	देव और उनकी कविता	1949
8.	आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	1955
9.	विचार और विश्लेषण	1955
10.	भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	1955
11.	भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा (भाग 1)	1956
12.	अरस्तू का काव्यशास्त्र	1957
13.	काव्य में उदात्त तत्त्व	1958
14.	अनुसंधान और आलोचना	1961
15.	कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	1962
16.	डॉ. नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबंध	1962
17.	रस-सिद्धांत	1964
18.	आलोचक की आस्था	1966
19.	काव्य-बिंब	1967
20.	आस्था के चरण (समीक्षात्मक निबंधों का संकलन)	1968

21.	नई समीक्षा : नए संदर्भ	1970
22.	समस्या और समाधान	1971
23.	भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका	1973
24.	शैली विज्ञान	1976
25.	शोध और सिद्धांत	1976
26.	उत्तर लेख	1976
27.	भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा (भाग 2)	1977
28.	मिथक और साहित्य	1978
29.	कालजयी कृतियाँ	1980
30.	कृतिकार	1980
31.	साहित्य का समाजशास्त्र	1982
32.	काव्य-चिंतन	1983
33.	चिन्तन-अनुचिन्तन	1983
34.	पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र : सिद्धांत और परिदृश्य	1984
35.	भारतीय समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य-दृष्टि	1985
36.	मैथिलीशरण गुप्त का काव्य : पुनर्मूल्यांकन	1986
37.	साहित्यिक अनुसंधान : सिद्धांत और प्रक्रिया	1987
38.	प्रसाद और कामायनी : मूल्यांकन का प्रश्न	1990
39.	आस्था के चरण (दो भागों में पुनर्मुद्रण)	1991
40.	राम की शक्ति-पूजा : निराला की कालजयी कृति	1993
41.	पुनर्वाक्	1997
42.	तुलसी संदर्भ	1998
43.	नगेंद्र ग्रंथावली (दस खंडों में)	1998

संस्मरण और आत्मकथा

1.	चेतना के बिंब	1967
2.	अर्धकथा	1988

यात्रावृत्त

1.	तंत्रालोक से यंत्रालोक तक	1968
2.	अप्रवासी की यात्राएँ	1971

कविता

1. वनबाला 1937
2. छन्दमयी 1949
3. मर्मकथा 1990

संपादित ग्रंथ

1. सियारामशरण गुप्त 1950
2. हिंदी ध्वन्यालोक 1952
3. कवि भारती 1953
4. रीति-शृंगार 1954
5. हिंदी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1954
6. भारतीय नाट्य-साहित्य 1955
7. हिंदी वक्रोक्तिजीवित 1955

8-10. हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास (खंड 6, 10, 15) 1958-1976

11. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा 1958
12. भारतीय वाङ्मय 1958
13. हिंदी अभिनव भारती 1960
14. हिंदी काव्यप्रकाश 1960
15. हिंदी नाट्यदर्पण 1961
16. हिंदी भक्ति रसामृत सिंधु 1963
17. मानविकी शब्दकोश 1964
18. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद 1966
19. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परंपरा 1969
20. भारतीय काव्य-सिद्धांत 1969
21. भारतीय साहित्य-कोश
    (भारतीय साहित्य का बृहद् संदर्भ-कोश) 1973
22. रामचरितमानस : तुलनात्मक अध्ययन 1974
23. भारतीय समीक्षा 1975
24. हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती 1975
25. वर्ड्सवर्थ और कोलरिज : समीक्षा सिद्धांत 1976
26. आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड 1977
27. डॉ. सैमुअल जॉनसन : सिद्धांत और समीक्षा 1978
28. तोल्सतोय : जीवन धर्म और साहित्य 1979

29. टी. एस. एलियट के आलोचना-सिद्धांत 1979
30. सूर पंचशतक 1979
31. भारतीय कृष्णकाव्य और सूरसागर 1979
32. अध्यापक पूर्ण सिंह 1983
33. भाषाशास्त्र के सूत्रधार 1984
34. तुलनात्मक साहित्य 1985
35. भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं कला 1985
36. भारतीय साहित्य 1987
37. मैथिलीशरण गुप्त : काव्य संदर्भ-कोश 1987
38. भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास 1989
39. नेहरू का साहित्य संसार 1990
40. भारतीय महाकाव्य 1992
41. हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में दिल्ली का योगदान 1995
42. विश्व साहित्यशास्त्र 1996
43. विश्व काव्य चयनिका 1998
44. हिन्दी साहित्य का इतिहास
45. मुक़दमा-ए-शेरो-शायरी
46. मेरी साहित्यिक मान्यताएँ
47. रंगकर्म

अंग्रेज़ी कृतियाँ

1. Indian Literature 1959
2. Literary Criticism in India 1976
3. Tulsidas : His Mind and Art 1976
4. An Introduction to Indian Poetics (With Prof. V. Raghavan) 1977
5. Comparative Literature 1977
6. Surdas : His Mind and Art 1978
7. Surdas : A Revaluation 1979
8. Jay Shankar Prasad : His Mind and Art 1979
9. Premchand 1980
10. Maithilisharan Gupta 1981
11. Bihari 1982

12. Modern Hindi Fiction 1983
13. Hindi Drama and Stage 1983
14. Emotive Basis of Literature and Other Essays 1985
15. Literary Criticism in India and Acharya Shukla's Theory of Poetry 1986
16. A Dictionary of Sanskrit Poetics 1987

दूसरी भाषाओं में अनुवाद

1. रस-सिद्धांत (बाङ्ला, गुजराती, मराठी, कन्नड, संस्कृत और अंग्रेज़ी)
2. डॉ. नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबंध (तेलुगु और कन्नड)
3. अरस्तू का काव्यशास्त्र (पंजाबी, मलयाळम्)
4. डॉ. नगेन्द्र के तनक़ीदी मजामीन (उर्दू)
5. शैलीविज्ञान (गुजराती)
6. भारतीय साहित्य (रूसी)
7. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका (संस्कृत)

संपादित पत्रिकाएँ

1. वार्षिकी
2. संस्कृति
3. देवनागर

□□

भारतीय साहित्य के अन्यतम विद्वान और हिन्दी समालोचना के अनन्य प्रवक्ता डॉ. नगेन्द्र (जन्म : 22 मार्च 1915, अलीगढ़; निधन : 27 अक्टूबर 1999) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद भारतीय शास्त्र परम्परा और आलोचना के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं। उन्होंने अंग्रेज़ी में एम. ए. (1936) तथा हिन्दी में एम.ए. (1937) की उपाधियाँ प्राप्त कीं। कॉमर्स कॉलेज, दिल्ली में दस वर्षों तक अंग्रेज़ी में अध्यापन के उपरान्त ऑल इण्डिया रेडियो के समाचार प्रभाग में कुछ समय तक सेवाएँ प्रदान करने के बाद सेवामुक्त हो, पुनः हिन्दी विभाग, दिल्ली वि.वि. से जुड़े और वर्ष 1952 में इसके आचार्य तथा अध्यक्ष बने। वहाँ से 1980 में सेवामुक्त हुए। आगरा विश्वविद्यालय से 1947 में डी. लिट्. की मानद उपाधि प्राप्त डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय साहित्य को गहरी आत्मीयता और अन्तरंगता से उसकी समग्रता में देखा तथा भारतीय काव्यालोचन को उसकी परम्परा और निरन्तरता में परखते हुए सुविस्तृत दिगन्त का निर्माण किया। उन्होंने *भारतीय महाकाव्य, भारतीय साहित्य कोश, भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, तुलनात्मक साहित्य, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र* एवं *विश्वसाहित्य शास्त्र* ग्रन्थों में सम्यक् विवेचन तथा तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा अपने समकालीन, परवर्ती एवं अनुवर्ती पीढ़ियों के साहित्यकारों, अध्यापकों एवं शोधकर्ताओं के लिए चिन्तन के नये गवाक्ष खोले। उनकी तीस से अधिक मौलिक कृतियों और पचास से अधिक सम्पादित ग्रन्थों में *भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, पाश्चात्य काव्य शास्त्र, मिथक और साहित्य, आस्था के चरण, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, इमोटिव बेसिस ऑव लिटरेचर एण्ड अदर एस्सेज़, लिटररी क्रिटिसिज़्म इन इण्डिया एण्ड आचार्य शुक्ल'ज़ थियरी ऑव पोइट्री* तथा *कंटूर्स एण्ड लैंडमार्क्स ऑव हिन्दी लिटरेचर ग्रन्थमाला* प्रमुख हैं।

पद्मभूषण, साहित्य अकादेमी पुरस्कार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान सम्मान, भारत भारती, साहित्य वाचस्पति, साहित्य शिरोमणि आदि अलंकारों से विभूषित डॉ. नगेन्द्र भारतीय काव्य परम्परा में अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *रस सिद्धान्त* के लिए सुविख्यात हैं, जिसे वर्ष 1965 का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। उन्होंने रसशास्त्र की मूल संकल्पना और उसकी प्रतिष्ठा को शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त कर व्यापक और विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धांत प्रतिपादित किया। दीर्घकालिक गहन अध्ययन, मनन और चिन्तन एवं अनुचिन्तन से विकसित प्रौढ़ समालोचकीय आस्था और दृष्टि उनके सभी ग्रन्थों में मिलती है।

प्रस्तुत विनिबन्ध की लेखिका हिन्दी की वरिष्ठ समालोचक **डॉ. निर्मला जैन** (जन्म 1931), एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्., दिल्ली वि. वि. की आचार्य एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष रह चुकी हैं। आपकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं—*आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ, रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन, नई समीक्षा के प्रतिमान, साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन* और *हिन्दी आलोचना : बीसवीं शती*। आपने बाङ्ला और अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद-कार्य भी किया है, जिनमें *बाङ्ला साहित्य का इतिहास* तथा *एडविना एण्ड नेहरू* प्रमुख हैं। म. प्र. सरकार का आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार तथा सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार सहित अनेक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त श्रीमती जैन विभिन्न साहित्य संस्थाओं से सम्बद्ध हैं तथा स्वतन्त्र लेखन-कार्य में रत हैं।

ISBN : 81-260-1581-0

मूल्य : पच्चीस रुपये